अजेय राष्ट्रभावना

भगवतशरण उपाध्याय

प्रभात प्रकाशन
चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-६

अजेय राष्ट्रभावना

भगवतशरण उपाध्याय

प्रभात प्रकाशन
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

मूल्य ३ ५०

प्रकाशक सत्साहित्य केन्द्र
२/१५६ पसपत स्टीट, मथुरा
मुद्रक युगान्तर प्रेस, दिल्ली–६

दो शब्द

यह संग्रह मेरे निबन्धों का है जो चीनी आक्रमण के संदर्भ में लिखे गए थे और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'धर्मयुग' आदि पत्रों में प्रकाशित हुए थे। इस आक्रमण ने भारतीय राष्ट्र को सोते से जगा दिया था और उसके साहित्यकारों ने भी राष्ट्र की रक्षा में प्रयत्न किए थे। उन्हीं प्रयत्नों की दिशा में मेरा भी यह अकिंचन योग था।

इसमें चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया में लिखे लेखों के अतिरिक्त कश्मीर के संकट सम्बन्धी कुछ निबन्ध भी हैं। आशा करता हूं उनसे मेरे पाठकों को कुछ जानकारी बढ़ेगी। कश्मीर का एक अति संक्षिप्त इतिहास भी इसी लिए इसमें दे दिया गया है। भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता उत्तर में हिमालय द्वारा ही रक्षित और सीमित है इसमें एक लेख उस पर भी अनिवार्य हो गया। उस हिमालय को मैंने भारतीय संस्कृति के यशस्वी प्रतीक महाकवि कालिदास की आंखों देखने का प्रयत्न किया है। कालिदास ने भारत की एक आदर्श सीमा खींची है, आज के संदर्भ में उसका ज्ञान भी अनावश्यक न होगा। भारतीय अखण्डता के जो दर्शन संस्कृत के कवियों ने देश की प्राकृतिक सुषमा और एकता में किए हैं उनकी ओर भी एक निबन्ध में संकेत कर दिया गया है। भारत की अजेय राष्ट्रभावना का चिंतन इसी शीर्षक के अन्तिम निबंध में हुआ है।

—लेखक

सूची

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिन् तथा वर्तितव्य स धर्म
मायाचारो मायया वारणीय
साध्वाचर साधुना प्रत्युपेयः ।।

—महाभारत

जो मनुष्य जैसा व्यवहार करे उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना उचित है, यही धर्म है। धोखे का उत्तर धोखे से देना चाहिए, साधु आचरण का साधु आचरण द्वारा।

१ | उदार भारत, कृतघ्न चीन !

चीनी हमले से मन को चोट कहीं ज़्यादा लगी थी, और नेफ़ा की दिशा से लौट जब घर में चीनियों की घिनौनी कृतघ्नता की बात सोचने लगा था तभी पाँच बरस के मेरे पोते ने गले से झूलकर कहा—बाबा हिन्दी चीनी भाई भाई !

घाव पर ठेस लगी। जाना कि बच्चे की माँ ने उसे सिखाकर भेजा होगा और यह भी जाना कि बालक उस भयानक व्यंग्य की गहराई को महसूस कर रहा है जिसका गुमान न केवल मुझे ही नहीं था बल्कि सारे हिन्दुस्तान को नहीं था। हाँ, मुझे भी नहीं था। शिष्यप्राण ईसा को कब गुमान था कि उसका शिष्य ही एक दिन उसे ज़ालिमों के हाथ सौंप देगा, उसकी करतूत से ही ईसा को काँटों का ताज पहनना होगा, उसी की मुख़बिरी से ईसा को अपना ही सलीब कंधों पर ढोना होगा फिर उसी पर टंग जाना होगा ? जूलियस सीज़र को कब गुमान था कि उसी का बेटा उसकी कोख में कटार घुसेड़ देगा ? हलियोक्लीज को कब गुमान था कि उसका बेटा उसकी गिरी लाश पर रथ के पहिये दौड़ायेगा ?

निस्सन्देह भारत को भी गुमान न था कि उसे बड़ा भाई कहने वाला चीन इस तरह उसकी पीठ में खंजर भोंक देगा।

मैंने भी नयी चीन से लौटकर उसके अतीत के बड़प्पन पर किताबें लिखी थीं—'भारत चीन' 'कलकत्ते से पीकिंग'। किसने नहीं लिखा ? किसने चीन के उस तीव्र जहर को नहीं पिया जिसकी ऊपरी सतह पर मधु तरता था भीतर जिसके हलाहल घुला था ? चीन से लौटते ही हमारे उदारचेता अप्रतिम जननायक नेहरू ने कलकत्ते में ऐलान किया था कि चीन ने शान्ति के विकास में गजब के कदम उठाये हैं अपना देश भी समाजवादी विकास की ओर डग मारेगा। उसी की देखा देखी उन्होंने सरकारी अफसरों का बंद कोट के लिबास का भी विधान किया। और उसी चीन ने जिसके नर-नारियों के सिखाये प्रदर्शनप्रेरित स्वागत ने हमारे पंडित का मन मोह लिया था आज भारत पर हमला किया है!

मध्य एशिया के कूची में जब भिक्षु कुमारजीव धर्म साध रहा था तब चीनियों ने हमला कर कुमारजीव को कैद कर लिया। कुमारजीव बोला—बिन मांगा वरदान मिला, ले चलो उस देश को जहां भगवान के उपदेश के लिए मेरे ग्यारहों प्राण आयत हैं। और हूणों के देश चाल में शान्ति और दया के प्रवचन कहे कुमारजीव ने। इन गुरुतावयों का प्रतिफल आज फल रहा है। चीन के हूणों ने भारतीय इतिहास के गुप्त हरे युग की रीढ़ तोड़ दी और बदले में भारत ने चीन के पास शांति के दूत भेज, अपने स्नेह के स्रोत खोल दिये जिससे देश विधि और पुष्ट हो! मध्य एशिया की अगम्य मरुभूमि को भूख-प्यास से व्याकुल, सफरों की नसों के रक्त से प्यास बुझाते भारतीय साधु हूणों के देश तुनहुवांग पहुंचते और वाणी

के अमृत से चीनी कानों को मुग्ध कर लेते । कहा उन्होंने कि हमारे देश पर जिसने वाण मारा उसपर हम स्नेह का वर्षा करेंगे । और उस वर्षा का नतीजा आज हम भोग रहे हैं ! सदियों चीन को भारत ज्ञान के अनन्त संवाद भेजता रहा जिसकी प्रेरणा से, जिसके विस्तार के लिये चीनियों ने प्रेस और कागज ईजाद किये और संसार में ख्याति पाई । अजन्ता के चित्र सदियों चीनी तुनहुआंग की गुफाओं की दीवारों पर बरसते रहे और आज हूणों और मंगोलों से बर्बरता में बाजी मार ले जाने वाले चीनियों ने अपने गुरुदेश भारत पर हमला किया है !

उदारता ने हमारे इतिहास को बार-बार बदला है और बार-बार हमने शान्ति की शपथ ली है । अपनी उदारता का ही परिणाम आज हम भुगत रहे हैं । मकमोहन सीमारेखा को हमने नहीं बनाया था, उसे हमारे स्वामी अंग्रेजों और स्वयं चीनियों ने बनाया था । हमें तो केवल उसका उत्तराधिकार मिला है जैसे स्वयं चीनियों को चीन की उन सीमाओं का उत्तराधिकार मिला जिनके भीतर से तड़प-तड़प आज वे पड़ोसियों को गुलाम बनाने के प्रयत्न कर रहे हैं। मैकमोहन सीमा-रेखा संबंधी संधि पर उन्होंने, उनके पूर्वगामियों ने अंग्रेजों के साथ हस्ताक्षर किये, आज के चीनी प्रतिनिधियों ने स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री के साथ हस्ताक्षर किये हैं, मकमोहन सीमारेखा हमारी अन्यतम सीमारेखा है । हम उसे छोड नहीं सकते । जितनी भी कुरबानियां संभव होंगी और संभव वे वहां तक होंगी जहां तक जिस्म में खून की रवानी होगी, हम

सब करेंगे और वह सीमारेखा जो स्वतंत्र भारत के हिमालय वर्ती प्रदेश की सीमारेखा है हम किसी हालत में न छोड़ेंगे।

हम आज के चीन की शक्ति को जानते हैं, उसकी बर्बर नीति को जानते हैं उसकी कभी न बुझने वाली हविस की आग को जानते हैं पर हम अपनी संभावनाओं को भी जानते हैं, और जानते हैं कि नये राष्ट्र के बलिदानों की सीमायें निःसीम होती हैं कि हम अपनी उस मूलभूत देश प्रेम की प्रस्त्रा-धारा में उनकी बबरता को उसकी वस्य भूल को बहा कर, डुबाकर रहेंगे। नयी आजादी का स्वाद जिस राष्ट्र को मिल चुका है वह अपराजेय है भारत अपराजेय है।

पड़ोसी के धर्म से हम अवतक चुप थे। विश्वास था कि पड़ोसी और ऐसा पड़ोसी जिसे हमने शताब्दियां नहीं सहस्त्राब्दियों निबाहा है हमारी सीमा के प्रति देवभूमि की भाँति श्रद्धाशील रहेगा पर हमारे विश्वास के बीज गलत जमीन में लग और आज हमारी आँखें सहसा खुल गई हैं।

हमने अपने ही प्राचीन आचार्यों के अनुभूत सत्यों का परित्याग कर दिया था जिसका परिणाम आज हमारे सामने है। चाणक्य ने मौर्य राजनीति को आज से कोई सवा दो हजार साल पहले सवारते हुए कहा था कि पहला शत्रु पड़ोसी हुआ करता है वह 'प्रकृत्यमित्र' है क्योंकि उसकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा का पहला प्रहार निकटतम पड़ोसी पर होता है समान सीमा के बन्धु राज्य पर और कि पहली सावधानी उसके प्रति बरतना चाहिए। उस नीति का परिणाम यह हुआ था कि तब हमारे पहरुओं ने हिन्दूकुश की घाटियों से चीन, मध्य एशिया

और सीरिया से उठने वाले तूफानों को बाग मोड़ दी थी। और उन्होंने हिन्दूकुश साथ आमूदरिया साथ, वक्षु की केसर की क्यारियों में अपने घोड़े हिराये थे। आज उसी नीति को भूलकर हम अपनी सीमा को भी समाप्त करने में बस असमर्थ हो गये हैं।

पर हम जानते हैं कि हमारी यह असमर्थता मात्र क्षणिक रही है और आज हमारी अस्सी करोड़ आँखें मैकमोहन सीमा-रेखा पर लगी हैं लद्दाख की सीक्यांगवर्ती सीमा पर और अस्सी करोड़ हाथ उसकी रक्षा के लिये आकुल हो उठे हैं।

हम जानते हैं कि चीनियों की संख्या दैत्यों की संख्या के परिमाण में है साथ ही उनके पास दैत्यों का 'रक्तबीज' का जादू भी है। रक्तबीज दैत्यों का मोहनास्त्र था। सुरासुर युद्ध में जब देवता एक दैत्य का मारते थे तब उसके शरीर से टपके हुए रक्त का एक-एक बूंद नया दैत्य बन जाया करता था, रक्तबीज बन जाता था नये सिरे से युद्ध करता था। पर क्या उनका संहार होने से बच रहा? निश्चय हमारी यह शपथ है हमारा यह प्रण है कि जब तक एक चीनी भी मैकमोहन सीमा-रेखा के इस पार रह जायेगा, नेफ़ा की जमीन पर एक भी पौधा मगोल चीनी रह जायेगा, हम चैन न लेंगे। हम यह भी जानते हैं कि चीन के निर्मम विधाताओं को अपनी जनता के प्राणों का मोह नहीं उसकी जान की कोई कीमत नहीं। तभी तो वे अपने गाँव की उस जनता का क्रूरतापूर्वक सगानों की नोक पर भारतीय मोर्चों की ओर हाँक रहे हैं। और इस जनता को घर का मोह भला हो कैसे, जिसके प्रति श्रद्धान्वित हो वे

तय करेंगे और वह सीमारेखा जो स्वतंत्र भारत के हिमालय वर्ती प्रदेश की सीमारेखा है, हम किसी हालत में न छोड़ेंगे।

हम आज के चीन की शक्ति को जानते हैं उसकी बर्बर नीति को जानते हैं उसकी कभी न बुझने वाली हविस की आग को जानते हैं पर हम अपनी संभावनाओं को भी जानते हैं और जानते हैं कि नये राष्ट्र के बलिदानों की सीमायें निःसीम होती हैं कि हम अपनी उस मूलभूत देश प्रेम की प्रेरणा-धारा में उनकी बर्बरता को उनकी दस्यु भूख को बहा-कर डुबाकर रखेंगे। नयी आजादी का स्वाद जिस राष्ट्र को मिल चुका है वह अपराजेय है भारत अपराजेय है।

पड़ोसी के भ्रम में हम अजगर चुप थे। विश्वास था कि पड़ोसी और ऐसा पड़ोसी जिसे हमने शताब्दियों नहीं सहस्राब्दियों निबाहा है हमारी सीमा के प्रति तपभूमि की भाँति श्रद्धाशील रहेगा पर हमारे विश्वास के बीज गलत जमीन में बये और आज हमारी आँखें सहसा खुल गई हैं।

हमने अपने ही प्राचीन आचार्यों के अनुभूत सत्यों का परित्याग कर दिया था जिसका परिणाम आज हमारे सामने है। चाणक्य ने मौर्य राजनीति को आज से कोई सवा दो हजार साल पहले संवारते हुए कहा था कि पहला शत्रु पड़ोसी हुआ करता है वह 'प्रकृत्यमित्र' है क्योंकि उसकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा का पहला प्रहार निकटतम पड़ोसी पर होता है समान सीमा के शत्रु राज्य पर और कि पहली सावधानी उसके प्रति बरतनी चाहिये। उस नीति का परिणाम यह हुआ था कि तब हमारे पहरुओं ने हिन्दूकुश की चोटियों से चीन मध्य एशिया

चीन भारत पर गोले बरसा रहा था, निश्चय राष्ट्रों की समझ में नहीं आया क्योंकि आधुनिक इतिहास तो दूर मानव जाति के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं कि जब हमलावर गोले बरसा रहा हो उसका शिकार मदद में उसकी पीठ ठोंके। वस्तुतः यह उदाहरण दुर्गों को चढ़ाई के जवाब में चीन पर स्नेह की वर्षा करने वाले उदाहरण से कहीं शामिलात है। और यह कुछ अकारण नहीं कि भारत के इस आचरण पर, जो निस्संदेह नैतिक आचरण था, भारतीय वैदेशिक नीति के सदम में नितान्त अनुकूल—वे राष्ट्र आश्चर्यपूर्वक दांतों तले उंगली दबा लें जो हमसे संभवतः कहीं सही चीनी प्रकृति का राज पा चुके हैं, और जो इस बात पर सन्नद्ध हैं कि वे किसी हालत में इस इन्सानियत के दुश्मन चीन को राष्ट्र संघ में बैठने का अधिकार न देंगे।

भारत को भी शायद अपनी इस नीति पर विचार करना होगा कि क्या 'जो तोकूं कांटा बुव ताहि बोइ तू फूल' का सिद्धान्त आज भी कोई महत्त्व रखता है। सभा में बैठने की एक शिष्टता होती है, उसी शिष्टता से उसमें बैठने वाला सभ्य कहलाता है—राष्ट्र संघ की सभा में बैठने की सभ्यता हमला-परस्त, शक्तिपरस्त बर्बर चीन में है क्या ? मैं नहीं समझता कि भारत, चीन को राष्ट्र संघ में बैठाने की सहायता न कर किसी अंश में अपने सनातन शान्तिप्रिय वैदेशिक नीति का प्रतिकूल आचरण करनेवाला कहलायेगा। भारत आज आक्रमण का उत्तर प्रत्याक्रमण से दे रहा है निश्चय सभ्य मानवराष्ट्रों की पंक्ति में बैठने का, मानव स्वतन्त्रता के विरोधी चीन के

दूसरों के घरों के प्रति आशंकित हों ? जो भावना अपने घर पर है वही मोर्चों पर है। जो घरों से उखाड़ जा चुके हैं उनके लिये क्या सफला मकाम का विचार? क्या हिमालय की ऊँचाइयाँ, क्या निश्चल भारत के मोर्चे। काश कि वे भयप्रेरित चीनी किसान जान पाते कि यह लड़ाई कृतघ्नता का आखिरी सबूत है, कि वह सीमा पार की जमीन है दूसरों की देवभूमि जिस पर वे अपना खून बहा रहे हैं, उनके लिये जिनके सामने जिन्दगी का कोई मोल नहीं। वर्ना क्या यह मुमकिन था कि जिन खतरनाक ऊँचाइयों पर पहाड़ी खच्चर तक चूक जाने के डर से चलने की हिम्मत न करें वहाँ अपनी हथेलियों पर ग़रीब चीनी किसान तोप गाड़ियों के पहिये संभालें।

काश ! वे जान पाते कि यह लड़ाई सीमा की लड़ाई नहीं, इन्सानियत के खिलाफ लड़ाई है उस उदार पड़ोसी की पीठ में छुरा भोंकना है जो राष्ट्रों की पाँत से निकाले चीन को फिर उनकी जमात में बिठाने का प्रयत्न आज भी कर रहा है जब उसकी मध्य की पेशानी पर चीन हथौड़े बरसा रहा है। अभी कुछ हफ्ते नहीं गुजरे जब संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठक में जोरिन के प्रस्ताव का भारत ने चीन के मसले पर समर्थन किया था और चीन के राष्ट्र संघ में प्रवेश में सहायता की थी ठीक तभी जब चीन ने मैकमोहन रेखा की परवाह न कर उसे लाँघ जाने का हुक्म अपनी सेना को जारी किया था और जब वह चौथाई नेफा जीत चुका था जब उसके तोपाग्नि से सने पर हमारे जवान जुल्म के मोर्चे पर जूझ रहे थे।

भारत की ठीक उस दशा में चीन की यह सहायता, जब

२ | हिमालय की देवभूमि पर दानवों का ताण्डव

घमासान थमी थमा है। हिमालय के मोर्चों पर जवान जूझ चुके हैं। हिमालय की सफ़ेद बर्फ़ीली घाटियां हमलावरों और वसिवासियों के खून से रंग गई हैं। घमासान अभी थमा है।

पर घमासान बन्द नहीं होने का जब तक देवभूमि हिमालय की भारतीय सीमा पर एक भी हमलावर चीनी कायम है। हम जानते हैं कि चीन की जनसंख्या बड़ी है, पर यह भी जानते हैं कि वह मात्र जनसंख्या है जनशक्ति नहीं, क्योंकि उसके पीछे चीन की जनता नहीं मात्र जगवाज सरदार हैं—पुराने चीन 'वार लार्डों' के आधुनिक प्रतिनिधि—जिनकी दूसरों की जमीन हड़प लेने की हविस नहीं मिटी और जो संगीनों की नोक से अपने गांवों की जनता को भारत के मोर्चों पर ठेले जा रहे हैं। न उनके पास फौजी हुनर है और न सैनिक ईमानदारी पर उनकी सैनिकों की धाराओं पर धाराएं बढ़ी आ रही हैं, उनकी तोपें आग की बाढ़ों पर बाढ़ें दागती आ रही हैं। मंगोलों की तरह, उन हूणों की तरह, जो बार-बार कभी भारत की सीमाओं से टकराते रहे थे और अन्त में उसके

दावे का, भी यह समर्थन न करेगा।

भारत ने उदारता की सीमायें लाँघ ली हैं जिसका नतीजा यह हुआ है कि चीनियों ने उसे कायर समझ लिया है। वस्तुतः कायरता और मानवीयता की सीमायें परस्पर लगी रहती हैं और एक के आचरण से दूसरे का धोखा हो जाना कुछ अजब नहीं। पर उस धोखे के कारण भी हमी होंगे जब तक कि हम चीनियों के प्रति यह स्पष्ट न कर दें कि हमारी इन्सानपरस्ती बुजदिली नहीं थी, इन्सानपरस्ती थी, पर अगर हमारे चीन और एक नहीं पाँच पाँच चीन का—जिसकी बार-बार चीन के विधाताओं ने शपथ ली थी—दर्प व दैन्य लगायें तो हम भी उस धृष्टता का उत्तर उस नीति से देंगे जिस नीति का उपयोग सभ्य और सज्जन को अवसर मजबूर होकर करना पड़ता है। और हमने उसका सबूत दिया है दे रहे हैं देते जायेंगे। हमारे चालीस करोड़ नर-नारी, आबालवृद्ध अपने देश की उत्तरी सीमाओं की अपना अकूत कुरबानियों से कमाई आजादी की रक्षा रक्त की अंतिम बूंद तक करेंगे। यह हमारी भीष्म प्रतिज्ञा है यही हमारी आज शपथ है।

जय हिन्द ! जय भारत !

२ | हिमालय की देवभूमि पर दानवों का ताण्डव

घमासान अभी थमा है। हिमालय के मोर्चों पर जवान जूझ चुके हैं। हिमालय की सफ़ेद बर्फ़ीली चोटियां हमलावरों और बलिदानियों के खून से रंग गई हैं। घमासान अभी थमा है।

पर घमासान बन्द नहीं होने का जब तक देवभूमि हिमालय की भारतीय सीमा पर एक भी हमलावर चीनी कायम है। हम जानते हैं कि चीन की जनसंख्या बड़ी है, पर यह भी जानते हैं कि वह मात्र जनसंख्या है जनशक्ति नहीं क्योंकि उसके पीछे चीन की जनता नहीं, मात्र जंगबाज़ सरदार हैं—पुराने चीन 'वार लार्डों' के आधुनिक प्रतिनिधि—जिनकी दूसरों की जमीन हड़प लेने की हविस नहीं मिटी और जो संगीनों की नोक से अपने गांवों की जनता को भारत के मोर्चों पर ठेले जा रहे हैं। न उनके पास फौजी हुनर है और न सैनिक ईमानदारी, पर उनकी सैनिकों की धाराओं पर धाराएं बढ़ी आ रही हैं, उनकी तोपें आग की बाढ़ों पर बाढ़ें दागती जा रही हैं। मंगोलों की तरह उन हूणों की तरह, जो बार-बार कभी भारत की सीमाओं से टकराते रहे थे और अंत में उसके

दावे का, भी यह समर्थन न करेगा।

भारत ने उदारता की सीमायें लांघ ली हैं जिसका नतीजा यह हुआ है कि चीनियों ने उसे कायर समझ लिया है। वस्तुतः कायरता और मानवीयता की सीमायें परस्पर लगी रहती हैं और एक के आचरण से दूसरे का धोखा हो जाना कुछ अजब नहीं। पर उस धोखे के कारण भी हमी होंगे जब तक कि हम चीनियों के प्रति यह स्पष्ट न कर दें कि हमारी इन्सानपरस्ती बुजदिली नहीं थी, इन्सानपरस्ती थी पर अगर हमारे चीस और एक नहीं पाँच-पाँच चीन का—जिसकी बार-बार चीन के विधाताओं ने शपथ भी ली—भाव वे दम्य लगावें तो हम भी उस धृष्टता का उत्तर उस नीति से देंगे जिस नीति का उपयोग सभ्य और सज्जन को अवतय मजबूर होकर करना पड़ता है। और हमने उसका सबूत दिया है दे रहे हैं, देते जायेंगे। हमारे चालीस करोड़ नर-नारी, आबालवृद्ध अपने देश की उत्तरी सीमाओं की अपना बड़ी कुर्बानियों से कमाई आज़ादी की रक्षा रक्त की अंतिम बूंद तक करेंगे। यह हमारी भीष्म प्रतिज्ञा है यही हमारी आज शपथ है।

जय हिन्द ! जय भारत !

२ | हिमालय की देवभूमि पर दानवों का ताण्डव

घमासान अभी थमा है। हिमालय के मोर्चों पर जवान जूझ चुके हैं। हिमालय की सफेद बर्फीली घाटियाँ हमलावरों और बलिदानियों के खून से रंग गई हैं। घमासान अभी थमा है।

पर घमासान बन्द नहीं होने का जब तक देवभूमि हिमालय की भारतीय सीमा पर एक भी हमलावर चीनी कायम है। हम जानते हैं कि चीन की जनसंख्या बड़ी है, पर यह भी जानते हैं कि वह मात्र जनसंख्या है, जनशक्ति नहीं, क्योंकि उसके पीछे चीन की जनता नहीं, मात्र जंगबाज सरदार हैं—पुराने चीन 'वार लार्डों' के आधुनिक प्रतिनिधि—जिनकी दूसरों की जमीन हड़प करने की हविस नहीं मिटी और जो मशीनों की नोक से अनन्त गाँवों की जनता को भाग्य के मोर्चों पर ठेले जा रहे हैं। न उनके पास फौजी हुनर है और न सैनिक ईमानदारी पर उनकी सैनिकों की भावनाओं पर भारत बढ़ी जा रही है, उनकी मारें भाप की बाढ़ों पर बाढ़ दागती जा रही हैं। मक्खियों की तरह, टिड्डी दलों की तरह, हूनों की तरह, जो बार-बार कभी भारत की सीमाओं से टकराते रहे थे और अन्त में उसके

उधर में पैठ-पग गये थे। उनके चंगेज ने चीन से आस्ट्रिया तक अरब से मास्को तक की असीम जीत की थी—मास्को और लेनिनग्राद में तातारों ने मस्जिदें खड़ी कर दी थीं—(मास्को और लेनिनग्राद सावधान हो जाएं, क्योंकि जिस अजदहा ने अपनी पूंछ की चोट भारत पर मारी है उसके जबड़े रूस की ओर हैं) पर चंगेज ने तब के हिन्दुस्तान की हकीकत समझी थी और सिन्धुनद के तीर से वह वापस लौट गया था।

पर आज के चीनी 'वार-लार्ड' आज के भारत की हकीकत नहीं जानते और अपने आज के मोर्चे भारत की सरहद पर दूर पार बढ़ाये जा रहे हैं शायद इस कारण कि वे जानते हैं कि वे तिब्बत के पार हिमालय की उन बर्फीली ऊंचाइयों पर आग लगा रहे हैं जहां वे महज आग ताप सकेंगे और उसके अपने घर में लग जाने का डर न होगा। पर आग यह लौटेगी भारत के उन्चासों पवन का तूफान लिये लौटेगी, और सारा चीन दावाग्नि का शिकार हो उठेगा। निनवे के असुर सम्राटों ने जब इसरायल पर अग्नि के भाड़ उलट यूरूशलम को अग्निसात कर दिया था तब यहूदी नबी नाहोम की आवाज निनवे के खिलाफ गूंज उठी थी असुरों के जोम और अहंकार का धिक्कारता—'धिक्कार उस नगर को! धिक्कार उस खूनी नगर निनवे का। देख निनवे मैं तेरा विरोधी हूं साम्य रात् और मैं तेरे मगपम का राज खोल दूंगा तेरी बर्बरता का दामन भाल सिवाय को उघाड़ दूंगा और तेरी नग्नता का राष्ट्रों में भण्डाफोड़ कर दूंगा राज्यों पर तेरा बेहयाई जाहिर कर दूंगा। और तेरे ऊपर तेरा ही गलीज बरस पड़ेगा

तेरे अहंकार को ढक लेगा, तुझे घिनौना बना देगा और तू अपनी ही जलालत पर ताकता रह जायगा। और ऐसा होकर रहेगा जान ले तू, अभिशप्त निनवे, कि आज जो तेरे हमगुजर हैं, तुझसे बाजू मिलाये चल रहे हैं, वे ही एक दिन तेरी छूत मानेंगे, तेरा मुंह देखने से परहेज करेंगे, तेरे साथ से दूर भागेंगे, और चिल्ला-चिल्लाकर ऐलान करेंगे कि निनवे नष्ट हो गया, धूल में पड़ा है जमींदोज हो चुका है। फिर कौन तुझ पर आंसू बहायेगा? देख निनवे कान खोलकर सुन ले—तेरे बाशिन्दों में बस औरतें रह जायेंगी, सब तलवारों के घाट उतर जायेंगे, तेरे घेरे के द्वार दोनों फाटक दो ओर दुश्मनों के सामने अपने-आप खुल जायेंगे, आग की लपटें तेरे शहरपनाह को तुझे घेरने वाली ऊंची दीवारों को चाट जायेंगी" असुरों के राजा, तू भी सुन ले—तेरे गांवों के सियार भेड़ों के चरवाहे सदा के लिए सो जायेंगे तेरे अभिजात अमीर धूल में मिल जायेंगे, तेरी क़ौम टुकड़े-टुकड़े होकर, बर्बाद होकर, पहाड़ों पर बिखर जायगी और कोई उसका पुरसांहाल न होगा, कोई नामलेवा न बचेगा फिर उनको हांककर कोई इकट्ठा न कर पायेगा और तब निनवे, तेरे घाव का कोई मरहम भी न होगा, और तेरा घाव गहरा है और ऐसा गहरा कि तेरे दर्द से किसी की आह न निकलेगी, सुनने वाले तालो बजा उठेंगे, कारण कि जमीन पर भला ऐसा कौन है जिस पर तेरा क़हर न बरसा हो?

यही बात आज मैं पिकिंग से कह रहा हूं जो निनवे का, खूंखारी में असाधारण वारिस है। और मैं नाहोम नहीं हूं,

नबी नहीं हूँ फकीर नहीं हूँ, प्रकृत भारतीय राष्ट्रीयता का हामी मार्क्सवादी नागरिक हूँ। पहले कभी चीनी साम्यवाद ने मुझे गहरा प्रभावित किया था जैसे उसने हमारे प्रधानमंत्री पंडित नेहरू को प्रभावित किया था जिन्होंने चीन से लौटकर उसी प्रभाव के संकेत पर अपने देश में उसी समाजवादी राष्ट्र की कल्पना की जैसे चीन से लौटकर मैंने खुद किताबें लिखीं—"लाल चीन", "कलकत्ते से पिकिंग"—पर आज मार्क्सवाद के दुश्मन नतिक मार्क्सवाद आस्था के दुश्मन माओ और चाऊ-एन-लाई ने वह चोला का सपना तोड़ दिया है। निश्चय चीन का मार्क्सवाद न मार्क्स का है, न लेनिन का और न उसकी राष्ट्रीयता सुनियात सेन की है। उसका मार्क्सवाद उस अजगर का है जो चीनी भूख का प्रतीक है और जो भारत की उत्तरी सीमा पर आज आग की लपटें उगल रहा है।

ऐसा नहीं कि भारत न उस अजगर को जाना न हो। भारत ने उसे जाना है, उसकी दुर्नीति का अपनी प्रशांत नीति से दमन किया है उस शांति का सहस्राब्दियों पाठ पढ़ाया है, उसे वसिष्ठ की तरह चूहे न बिल्ली बिल्ली से कुत्ता कुत्ते से शेर बनाया है पर वही वसिष्ठ का बनाया शेर अगर अपने विधाता वसिष्ठ को ही खा जाने के उपक्रम करे तो वसिष्ठ को उसे फिर चूहा बना देने में जरा भी संकोच न होगा।

संकोच वसिष्ठ को हुआ भी नहीं है क्योंकि आबू का यज्ञकुण्ड अब हिमालय की चोटियों पर जा चढ़ा है और निरंतर अग्निवर्णों से हमारी वीरता के प्रतीक और प्रहरी—चौहान प्रतिहार, परमार और चालुक्य—निकालता जा रहा है—य

कुछ अकारण नहीं कि पश्चिम से आहूत 'चौहान' के हाथ में आज भारतीय रिसालों की बागडोर दे दी गई है और ये रिसाले अब हिमालय की चोटियाँ लांघकर रहेंगे।

चीनी—(अब मैं यह लेख लिखा रहा हूं मेरा पांच बरस का नाती मेरे पास बैठा चुपचाप सुन रहा है और अभी-अभी जैसे ही मैंने 'चीन' शब्द का उच्चारण किया और आगे की बात सोचने के लिए जरा दम लिया तब तक बच्चे ने हल्के से कह दिया है—"चीन"—सच, चीनी चीने। और निश्चय इस पांच बरस के बालक का यह उद्गार भारतीय जनता का उद्गार है।)—चीनी निस्सन्देह जानकार हैं, अनेक प्रकार की दानवी मायाओं के जानकार। वे जानते हैं कि पहली चोट पड़ोसी पर करनी होती है। प्रशा के पहले सत्तावादी नृपति और कूटनीतिवादी मेकियावेली के परम शिष्य फ्रडरिक महान् ने जब वाल्तेयर से कहा था कि मैं मेक्यावेली का खंडन लिखने का विचार कर रहा हूं तब व्यग्यकार वोल्तेयर ने धीरे से मुस्कराकर कह दिया था—बेशक, मेकियावेली जैसा गुरु अपने शिष्य से खंडन की स्वाभाविक ही अपेक्षा करेगा और उस व्यग्य का चोट को समझ फ्रेडरिक न मेकियावेली का खंडन तो नहीं लिखा था, आस्ट्रिया की मारिया थेरेसा का अभिभावकत्व कर उससे साइलेशिया जरूर छीन लिया था। चीन ने गुरु-वाक्य का खंडन भी किया है, उसकी बड़ाई राजनीति के दांव भी उसी पर उलट दिये हैं। कौटिल्य ने लिखा था—पड़ोसी प्रकृत्यमित्र होता है उससे सावधान रहो दिग्विजय में पहली चोट उसी पर करनी होगी। भारत में तीसरी ही पीढ़ी में

इस नीति का उलट दिया था और आज के अन्तर्राष्ट्रीय शांति नीति के गुरु अशोक ने कौटिल्य को पीछे कर अपने गगनचुम्बी स्तंभों पर अमर पट्टाओं पर ऐलान किया था—अब तक का भेरीघोष अब धर्मघोष होगा दिग्विजय अब धर्मविजय होगी। माया फ्रडरिक की सीमाओं से भी सीमित नहीं क्योंकि उसने छदन भी किया गुरुवेश पर आक्रमण भी। इधर महीने-भर से पिकिंग का रेडियो निरंतर झूठा प्रचार करता रहा है अपने आक्रमण को आत्मरक्षा घोषित करता रहा है निरीह वठे भारत को हमलावर और आक्रांत कहता रहा है। सो वह जानकार है झूठ की माया का जानकार।

और नैतिकता को कोई सीमा उसे बांध नहीं सकती क्योंकि आज का चीन नैतिकता के प्रतिबंध को प्रतिबंध नहीं मानता। शांतिप्रिय पड़ोसी की युद्ध विरक्ति उसके आड़े नहीं आ सकती कभी की दी हुई पंचशील की नीति की बांहुग म शपथ लेने वाला चीन पंचशील का मंत्र देने वाले भारत पर ही आक्रमण करेगा क्योंकि आज उसने उस नीति की व्यवस्था को (कि पूंजीवादी और साम्यवादी देशों का इस धरा पर समान रूप से सहअस्तित्व हो सकता है और जिसकी उसी का पड़ोसी और रहनुमा भाई रूस घोषणा करता है) रद्दी के टोकरे में डाल दिया है। वह आज खुला ऐलान करने लगा है कि सहअस्तित्व का कोई अर्थ नहीं सहअस्तित्व संभव नहीं।

सो यह मालूम की बात है कि ऐसे गुरु भारत पर वह पीछे से आघात कर जब भारत अपनी पीठ का मित्र राष्ट्र

चीन द्वारा संरक्षित मान निमय सा रहा हो। सच यह साहस की बात है कि पड़ोसी मित्र राष्ट्र कृतघ्नता की सारी सीमाए लांघ जाए, कृतघ्नता के सारे मिसाल मूठ कर दे। सोचिये जरा इसके विपरीत भारत के भी उस कठिन साहस की बात जब चीन के आक्रमण के बावजूद, स्त्रो प्रतिनिधि कोरिन की घुटीली वार्तों के बावजूद, राष्ट्र संघ में चीन का बिठाने के प्रस्ताव का समर्थन कर उसने उसके अनुकूल वोट दिया है। पर अब भारत ने भी उस बदी को साकार महसूस किया है जिसका उसे गुमान भी न था और उसने कौटिल्य की चेतावनी याद कर अपने स्वत्व पर आक्रमोदय अधिकार तक अशोक की नीति का बदलकर फिर अपना राजनीतिक नारा बनाया है—धर्मघोष फिर भेरीघोष होगा धर्मविजय विजित सीमा-विजय होगी और भारत अपनी देवभूमि हिमालय की धरा लेकर रहेगा।

पड़ोसी के प्रति इस दुर्भावना की सच्चाई चीन अपने रेडियो प्रचार द्वारा बता रहा है। पर एशिया—विशेषत दक्षिण-पूर्वी एशिया—विवस हो उठा है। कभी के चीन के एक वर्ग का नारा था कि चीनी वर्ग की बोलियां बोलने वाले सार राष्ट्र चीन के उपगोत्री हैं उसके साम्राज्य के सीमावर्ती सामंत हैं उसकी 'मंडलनामि' के मडलाधीश हैं। इस चीनी चक्रपरिधि म पूर्वी सीमा की प्राय सारी जातियां हैं—सिक्किम भूटान बर्मा, तिब्बत, थाईलैंड मलाया कंबोडिया, वियतनाम लाओस सभी। तिब्बत को चीन आत्मसात कर चुका है बर्मा मे उसन क्षणिक संधि कर ली है सिक्किम और तिब्बत के

इस नीति को उलट दिया था और आज के अन्तर्राष्ट्रीय शांति नीति के गुरु अशोक ने कौटिल्य को पीछे कर अपने गगनचुम्बी स्तभों पर अमर चट्टानों पर ऐलान किया था—अब तक का भेरीघोष अब धर्मघोष होगा, दिग्विजय अब धर्मविजय होगी। माओ फ्रेडरिक की सीमाओं से भी सीमित नहीं क्योंकि उसने वचन भी दिया गुरुदेश पर आक्रमण भी। इधर महीने भर से पिकिंग का रेडियो निरंतर झूठा प्रचार करता रहा है, अपने आक्रमण को आत्मरक्षा घोषित करता रहा है निरीह बैठे भारत को हमलावर और आघात कहता रहा है। सो वह चमत्कार है झूठ की माया का चालकर।

और नैतिकता की कोई सीमा उसे बांध नहीं सकती क्योंकि आज का चीन नैतिकता के प्रतिबंध को प्रतिबंध नहीं मानता। शांतिप्रिय पड़ोसी की युद्ध विरक्ति उसके आड़े नहीं आ सकती उसी की दी हुई पचशील की नीति की बांडुग में शपथ लेने वाला चीन पंचशील का मंत्र देने वाले भारत पर ही आक्रमण करेगा क्योंकि आज उसने उस नीति की व्यवस्था को (कि पूंजीवादी और साम्यवादी देशों का इस धरा पर समान रूप से सहअस्तित्व हो सकता है और जिसकी उसी का पड़ोसी और रहनुमा भाई रूस घोषणा करता है) रद्दी के टोकरे में डाल दिया है। वह आज खुला ऐलान करने लगा है कि सहअस्तित्व का कोई अर्थ नहीं सहअस्तित्व संभव नहीं।

सो यह साहस की बात है कि ऐसे गुरु भारत पर वह पीछे से आघात करे जब भारत अपनी पीठ को मित्र राष्ट्र

चीन द्वारा संरक्षित मान निर्भय सो रहा हो। सच यह साहस की बात है कि पड़ोसी मित्र राष्ट्र कृतघ्नता की सारी सीमाएं लांघ जाए, कृतघ्नता के सारे मिसाल भूठ कर दे। सोचिये और इसके विपरीत भारत के भी उस कठिन साहस की बात जब चीन के आक्रमण के बावजूद, रूसी प्रतिनिधि ज़ोरिन की चुटीली बातों के बावजूद, राष्ट्र संघ में चीन का बिठाने के प्रस्ताव का समर्थन कर उसने उसके अनुकूल वोट दिया है। पर अब भारत ने भी उस बदी का आभार महसूस किया है जिसका उसे गुमान भी न था और उसने कौटिल्य की चेतावनी याद कर, अपने स्वत्व पर आक्रमणोदय' अधिकार तक अप्रयोग की नीति को बदलकर फिर अपना राजनीतिक नारा बनाया है—अमघोष फिर भैरीघाप होगा अमविजय विजित सीमा विजय होगी और भारत अपनी देवभूमि हिमालय की अरु लेकर रहेगा।

पड़ोसी के प्रति इस दुर्भावना की सच्चाई चीन अपने रेडियो प्रचार द्वारा दबा रहा है। पर एशिया—विशेषतः दक्षिण-पूर्वी एशिया—विकल हो उठा है। कभी के चीन के एक वर्ग का नारा था कि चीनी वर्ण की बोलियां बोलने वाले मार राष्ट्र चीन के उपगोत्री हैं, उसके साम्राज्य के सीमावर्ती सामन्त हैं, उसकी 'मडलनाभि' के मंडलाधीश हैं। इस चीनी चक्रपरिधि में पूर्वी सीमा की प्रायः सारी जातियां हैं—सिक्किम, भूटान, बर्मा, तिब्बत थाईलैंड मलाया, कंबोडिया, वियतनाम, लाओस, सभी। तिब्बत को चीन आत्मसात कर चुका है बर्मा से उसने क्षणिक संधि कर ली है, सिक्किम और तिब्बत

प्रति विश्वास की घोषणा की है वियत्नाम और लाओस उसके अपने हैं, थाईलैंड और मलाया की इन सारे देशों को हड़प लने के बाद बिसात ही क्या है ? सिक्कम और भूटान का भाग्य भारत के नेफ़ा और आसाम से बंधा है और बर्मा के साथ चीन की संधि कब तक टिकी रहेगी, यह कहना न होगा, विशेषकर जब वहां पन्द्रह फ़ीसदी चीनी रहते हैं और जब बर्मा का प्रायः समूचा व्यापार कुछ भारतीयों के हाथ में, अधिकतर चीनियों के हाथमें है। नेपाल के नय राज्य के प्रति चीन ने जो रुख लिया है उसने साम्यवादी राष्ट्रों को भी हैरत में डाल दिया है यद्यपि साधारण जनतांत्रिक राष्ट्र भी इसको साफ़ देख रहे हैं कि भय और प्रभाव का उपक्रम चल रहा है कि चूहा बिल्ली की मूछों से खेल रहा है रीझ-रीझ उसको प्यार में नोंच रहा है, और बिल्ली अपना लाड़ उस पर निछा-वर किए जा रही है। और यह नेपाल का चूहा भारत के बहिरंग में बिल बनाकर रह रहा है, और सातों धाम उसके बिल में हैं।

हिन्देशिया नेपाल से कहीं ज्यादा गुमराह है। शिकार का राजनीति के जाल में अपने आप आ फंसने का यह अपना उदाहरण आप है। यही एक राष्ट्र है जहां दोहरी नागरिकता व्यवस्थित है। बड़ी संख्या में हिन्देशिया में रहने वाले चीनी हिन्देशिया के भी नागरिक हैं चीन के भी, और एक दिन वे हिन्देशिया को समूचा लील जायेंगे। ज़ाहिर है कि जैसे कभी हिटलर ने जर्मनी के निकट के देशों में जहां-जहां जर्मन रहते थे वहां-वहां सुडेटन-जर्मन राष्ट्र की कल्पना की थी, वैसे ही

आज माओ ने भी समूचे दक्षिण-पूर्वी एशिया में बसने वाले चीनियों के नाम पर सुबेटन चीन का सपना देखा है। पर निश्चय उसका यह सपना वसे ही टूटकर रहेगा जसे हिटलर का टूट गया था।

आज भारत जग उठा है भारत खूब सोया, हमला हो चुकने पर भी कुछ काल सोता रहा, चाहे उनींदी नींद ही सोता रहा हो, पर आज वह जाग उठा है। और चाहे 'अहिपुच्छ' वृत्र कितना भी भयंकर हो, चीन का अजदहा कितना भी विशाल हो, वह उसे पछाड़कर ही रहेगा, वज्र द्वारा उस दानु पुत्र वृत्र को नष्ट कर देगा, अजदहे के जहरीले दाढ़ उखाड़ देगा। और यह चीनी मत्तगयन्द' सावधान हो जाय क्योंकि उसने सिंह का छेड़ा है और सिंह जग पड़ा है। हूणों से एक बार जब भारत टकराया था तब धरा हिल उठी थी—और उसकी भुजाओं ने आवर्त बना दिया था—हूणैर्यन समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कम्पिता। भीमावर्तकरस्य—चीनियों का पहला हमला भारत ने वैस ही लिया जैसे स्कन्दगुप्त ने कभी हूणों का लिया था, पर शीघ्र ही उसका उत्तर यशोधर्मा ने हूणों का देश से निकालकर अपनी विजय की प्रशस्ति मदसोर में स्थापित स्तम्भ पर खुदवाकर दिया था। अब हमारा विजय स्तम्भ हिमालय की चोटियों पर स्थापित होगा।

जय हिन्द ! जय भारत !!

३ दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्र और चीन का खतरा

भारत पर चीन का हमला खास मतलब रखता है। पहले तो यह समझ लेना चाहिए कि यह सरहदी झगड़ों का निपटारा नहीं चीनी प्रसरनीति से संयोजित हमला है जिसने दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों की हाल की बीती आजादी को खतरे में डाल दिया है। पिछली दो सदियों से दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों के ऊपर यूरोपीय साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक सत्ता का प्रभुत्व रहा है जिसके जुए को खूनी कुरबानियों से इन नवोदित राष्ट्रों ने अपने कंधे कंधों से उतार फेंका है। चीन और जापान उस विदेशी प्रभुता से प्रायः मुक्त रहे हैं। जापान तो सर्वथा मुक्त रहा है पर चीन पर यूरोपीय और अमरीकी कशमकश का दौरा खासा रहा है यद्यपि भारत अथवा दूसरे दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की तरह वह कभी विदेशी शासन में नहीं आ सका था।

जापान की स्थिति बिलकुल दूसरी रही है। उसने अनेक रूप से अपने को इंग्लैंड की सत्ता का अनुगामी समझा। जैसे यूरोप के पश्चिम में इंग्लैंड की स्थिति एकाकी रही है वैसे ही जापान की भी एशिया के पूरब में एकाकी रही है और उसने

भी अनेक प्रकार से साहस और सूझ से अपनी शक्ति बढ़ानी चाही है। अपना सारा शासनविधान उसने इंग्लैंड के अनुरूप साधा और उसी की देखा-देखी पूरब में साम्राज्य निर्माण की व्यवस्था की। एक सामान्य राजनीतिक सिद्धांत यह रहा है कि साधारणतः तंग परिधि में रहने वाली श्रीमान् जाति ही अपनी बढ़ती हुई आबादी की उदरपूर्ति और नई बस्ती के लिए साधार प्रसरनीति का अवलंबन करती है और बाद में जब खून का स्वाद पाए शेर की तरह उसे उपनिवेशों के निर्माण का चस्का लग जाता है तब वह इतना आवश्यकता के लिए नहीं जितना साम्राज्य के ऐश्वर्य के लिए, साम्राज्यवादी प्रसरनीति को अपनाती है। यही स्थिति वस्तुतः सत्रहवीं अठारहवीं सदियों के प्रसरमान यूरोपीय राष्ट्रों—स्पेन इंग्लैंड जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल—की रही है। जर्मनी के उपक्रम इस दिशा में सबसे पीछे हुए। इस सिद्धांत के अनुसार स्वाभाविक ही यह विपरीत सत्य भी निष्कर्ष रूप में प्राय अकाट्य माना जाता था कि जिस राष्ट्र की भौगोलिक सीमाएं बड़ी होंगी और उन सीमाओं पर अधिकार स्वयं उस राष्ट्र का होगा उसे प्रसरलिप्सा न होगी, उसकी आबादी की आवश्यकताएं उसकी सीमाओं में ही उत्पन्न वस्तुओं से पूरी हो जायगी और अपनी औद्योगिक व्यापार की वस्तुओं की खपत तक के लिए उसको साम्राज्य के झंडे के नीचे बाहरी बाजार ढूंढ़ने न पड़ेंगे। पर उस राजनीतिक—आर्थिक आधार-भूत सिद्धांत को इस चीनी हमले ने गलत साबित कर दिया है। चीन की आबादी का कुछ अंश चाहे दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में फैला था

हो, उसकी अधिकतर आबादी चीन की सीमाओं में ही आज भी बसी है, और उन सीमाओं की परिधि इतनी बड़ी है कि उसकी आज की दुगुनी आबादी भी उन सीमाओं में समा सकती है। इससे यह वैसे भी समझा जा सकता है कि उसका यह प्रसारात्मक आक्रमण आवश्यकतावश नहीं साम्राज्यवादी लिप्सा के कारण हुआ है। इसका एक खास राज भी है जो इस प्रकार है।

जापान ने आवश्यकतावश फिर साम्राज्य के ऐश्वर्य के लिए, उन्नीसवीं सदी के अंत में अपना शक्ति-संगठन शुरू किया। अपनी सदियों पुरानी सामन्ती स्थिति को सर्वथा तोड़ उसने एक आर्थिक-सामाजिक राजसत्ताक नई स्थिति कायम की और वर्तमान सदी के आरंभ में उसका रूप बहुत कुछ इंग्लैंड और फ्रांस जैसा हो गया। उसने निश्चय किया कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया पर उसका एक मात्र प्रभुत्व होगा और उस दिशा में उसने तत्काल डग भरे। उसके प्रतिद्वंद्वी उसके दो पड़ोसी हो सकते थे चीन और रूस, जिनमें चीन तो तब अफीम की नींद सोता था और रूस जार शाही का शिकार अपने साम्राज्य की ढीली चूलें संभाल सकने में असमर्थ था। सो एक ओर तो जापान ने पूर्वी सागर पर अधिकार कर चीन में यूरोपीय सत्ताओं की शक्ति क्षीण कर दी, दूसरी ओर सन् १९०५ में रूस को धूल चटा उसने मंचूकुओ छीन संसार को अपनी उठती हुई अदम्य शक्ति से चकित कर दिया। दूसरे महायुद्ध की भूमिका-स्वरूप जब इटली ने अबीसीनिया पर हमला किया तब जापान ने भी चीन को

सीधा इंकार किया, यद्यपि यह सचमुच संभव न था कि सदा के लिए सांप का बच्चा अजगर को निगल जाए। चीनीवों के लीग आफ नेशन्स ने इटली और जापान दोनों को चेतावनी भेजी और दोनों ने उसका उपहास कर लीग आफ़ नेशन्स की बुनियाद मिटा दी। जापान ठीक उसी तरह पूरब के राष्ट्रों के विरुद्ध बढ़ा जिस तरह हिटलर का जर्मनी यूरोपीय राष्ट्रों के विरुद्ध बढ़ा था। चीन के बाद फ़िलिपीन हिन्देशिया, मलय कंबोडिया, लाओस और वियतनाम, थाईलैंड, बर्मा सभी एक के बाद एक उसकी प्रसरजोनि में समाते गए और अब बारी भारत की थी जिसके कलकत्ते पर उसने हल्की गोलाबारी की और मद्रास के बन्दरगाह पर धावा किया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के सारे राष्ट्र अब जापान के थे और जापान का साम्राज्य उनके ऊपर छाया हुआ था कि ठीक तभी पश्चिम में युद्ध का पासा पलटा और स्तालिनग्राद का मोर्चा रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया होता बर्लिन तक जा पहुंचा और जर्मनी उजड़ गया। उसका असर जर्मनी के मित्र जापान पर होना अनिवार्य था और उसकी लोटती सेनाओं के बावजूद अमरिका ने हिरोशिमा और नागासाकी को अणुबम के पहले प्रहार से नष्ट कर जापान को न केवल बेबस कर दिया बल्कि अपनी सेनाएं तक जापान की ज़मीन पर एक समूचे युगपर्यन्त जमा रखीं।

जैसे पश्चिम के राष्ट्रों ने टूटे जर्मनी के चंगुल से उठ नई सांस ली वैसे ही पूरब के देशों ने भी जापानी शिकंजे से मुक्त हो नवजीवन पाया। नए चीन ने चीनी हार, बुज़दिली और

कायरता के जनक कोमिन्तांग को अमरीकी विरोध के बावजूद देश से उखाड़ फेंका और वहां समाजवाद की सत्ता स्थापित की। दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों में स्वयं भारत ने संतोष की सांस ली और चीन में हुए नए सवेरे का अपना भी सूर्योदय माना।

पर हकीकत असल में कुछ और थी जिसका तब इन राष्ट्रों को अहसास तक न हुआ था। चीन जापान के साम्राज्यवाद का उत्तराधिकारी बन गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के छोटे-मोटे देशों को तो उसने स्नेह दया, सहायता आदि की मूठी माया से अपने अभिमुख किया पर वह जानता था कि भारत से विशेषकर एशिया ही नहीं समूचे संसार में तीव्र गति से उठते हुए उसके मान के सदर्भ में उसे कभी न कभी टकराना होगा क्योंकि बिना उससे टकराए एशिया की राज नीति की बागडोर उसके हाथ नहीं लगेगी। और वह अवसर की ताक में बैठा रहा। अवसर मिलते ही जब दक्षिण-पूर्वी एशिया और अफ्रीका के नए आजाद हुए देश अपने-अपने राष्ट्र के विकास में फंसे, तब चीन जो स्वयं पिछले प्रायः पन्द्रह सालों से सभी प्रकार से अपनी शक्ति बढ़ाता रहा था सहसा अपने संभावित प्रतिद्वंद्वी भारत पर आ टूटा। भारत विश्वास की नींद सो रहा था, कृतघ्नता की चोट से सहसा भड़भड़ा गया।

एशिया और अफ्रीका के देशों के लिए यह हमला एक चेतावनी था, विशेषकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए महान् खतरा। पर इसी घड़ी भारत की राजनीति को एक नए तथ्य

का ज्ञान हुआ, एक माया का सहसा उद्घाटन हो गया—कि एशिया-अफ्रीका की मानसिक एकता-मात्र माया है और बाडुंग की शपथें एक धोखा, कि बांडुग की दूसरी शक्तियां जहां विश्वास और आशा का शिकार रही हैं, उसकी सबसे बड़ी शक्ति चीन उस पचशील की जो उस सम्मेलन की रीढ़ रहा था, महज झूठी शपथ लेता रहा है। यह इस बात से और स्पष्ट हो गया कि, यद्यपि भारतीय सरकार ने बार-बार इस बात की घोषणा की थी कि संसार की प्राय साठ राष्ट्र शक्तियों ने चीनी आक्रमण का विरोध और भारत की आत्मरक्षा का समर्थन किया है तथ्य कुछ और रहा है। हकीकत यह है कि उन बीस राष्ट्रों में से जिनको भारत का परम हितू और समर्थक एलान किया गया है, वस्तुत दो ही निस्सदेह अपने आप स्थिति के खतरे को समझकर भारत के समर्थक हुए शेष अट्ठारह भारत की प्रार्थना पर। अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रों की संख्या राष्ट्रसंघ में समूचे सदस्य राष्ट्रों की संख्या की प्राय आधी है और जिन राष्ट्रों ने भारत के इस सकट में उसका समर्थन किया है उनमें दो-तिहाई संख्या उनकी है जो एशिया अफ्रीका की परिधि के बाहर के राष्ट्र है। इसलिए प्रमाणत भारत को अफ्रीका-एशिया के राष्ट्रों के एका को धोखा समझकर उसे अविलब छोड़ देना चाहिए। वस्तुत 'नानएलाइनमेंट' और शांति को राजनीति की घोषणा करने वाले राष्ट्र का एकस्थानीय गुटबंदी की सकीर्णता स्वीकार करना स्वय एक 'फ्रैलेसी' है क्योंकि यह नीति एक मानसिक प्रक्रिया है जो सारे विश्व की परिधि में ही सही होनी चाहिए, और हो सकती है,

मात्र एशिया और अफ्रीका के संदर्भ में नहीं। मुझे खुशी है कि यह धोखा आज सहसा टूट गया है। हमें आज स्वतंत्र रूप से एशिया अफ्रीका के एक-एक राष्ट्र के पास अपने प्रतिनिधि भेज कर यह समझाने की कोशिश करनी पड़ रही है कि हमारे ऊपर चीन ने जो हमला किया है वह सही है और कि वह हमला है, सीमाप्रांत का झगड़ा नहीं। वस्तुतः इस बात का हमें दलील देना ही हमारे पक्ष को कमजोर कर देता है कि हमारे सीमाप्रांत के इन-इन इलाकों पर चीन ने अधिकार किया है। यह तर्क वकीलों का है कि छुरा खाल को खरोंच कर ही रह गया है अथवा दो इंच जिस्म के भीतर घुस गया है। हमारा कहना तो संक्षिप्त और मात्र यह होना चाहिए कि शांतिप्रिय निरीह पड़ोसी के ऊपर प्रसरलिप्सा से संयुक्त चीन ने हमला किया है कि वह हमला अनजाने मासूम राष्ट्र पर हुआ है कि यह हमला अब केवल भारतीय सरकार की पर राष्ट्र नीति का खाली मसला नहीं रह गया है बल्कि राष्ट्र के दूर के छोरों तक को इसने झकझोर दिया है और समूचा देश—बाल-वृद्ध-युवा नर-नारी—एक प्राण होकर इस हमले का प्रतिकार कर रहा है और उसकी यह शपथ हो गई है कि जब तक एक भी चीनी अनैतिक रूप से भारत की सीमा पर रह जायगा तबतक भारत शस्त्र नहीं डालेगा।

तो इस एशिया-अफ्रीका के राष्ट्रों के एका की यह माया अब हमें छोड़नी होगी और यह याद रखना होगा कि एक ऐतिहासिक कारण से—आजादी की लड़ाई लड़ने के कारण समान भावबोध के कारण एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में

तथाकथित एका हो गया था। उनमें कोई खास अनिवार्य स्वाभाविक संबंध नहीं था। स्थिति उन व्यक्तियों की-सी थी जो एक ही सड़क पर एक ही ओर चलकर एक ही दिशा को जा रहे हों पर ऐसा करने वाले सारे व्यक्ति एक ही विचार से प्रेरित एक ही उद्देश्य से और एक साथ चल रहे हों यह कुछ आवश्यक नहीं।

भारत की पक्षनिरपेक्ष राजनीति साधु है और पक्षनिरपेक्ष वह बनी भी रहनी चाहिए। पर इसका मतलब यह नहीं कि वह शत्रु को शत्रु और मित्र को मित्र न समझे। अफ्रीका और एशिया के आज के स्वतंत्र राष्ट्र अनेक कारणों से अपने अपने कारणों से पक्षनिरपेक्ष हैं। कुछ तो इस कारण कि उनको दोनों पक्षों से सहायता चाहिए, कुछ इसलिए कि वे दोनों से डरते हैं कुछ इसलिए कि दूसरे पक्षनिरपेक्षों के प्रति उनको ईर्ष्या है।

आज वामपक्ष की राजनीति के भी अनेक पोषक पंडित नेहरू की ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत भारत के बने रहने की नीति की सार्थकता को समझने लगे हैं। उसका निश्चय अवरज का काम हुआ है कि ब्रिटेन इतने मूल्यवान अस्त्रशस्त्र भारत को निर्मूल्य दे रहा है केवल इस सहज बात पर कि भारत अपने आत्मसम्मान की रक्षा कर उन्हें लौटा दे। और यह बात भी वस्तुतः वह मार्मिक भाववोध है जो प्रत्येक उदार व्यक्ति उपकृत के प्रति उपकारकता होते केवल इसलिए करता है कि वह व्यक्ति अपने को याचक की स्थिति में न पाए। फिर एक बात और। अमरिका से हमें शस्त्रास्त्र की सहायता लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। हम अपनी योजनाओं के

विकास के लिए उससे धन या दूसरी वस्तुओं की सहायता लेते रहे हैं आज हमारी नई विपद् के संदर्भ में सहायता की वस्तुओं का मात्र रूप बदल गया है और हम बजाय और चीजों के, शस्त्रास्त्र लेने लग हैं। इस प्रकार का सहायता का अच्छा-बुरा होना लेने वाले की चित्त-वृत्ति पर निर्भर करता है। यदि लेने वाला राष्ट्र देने वाले राष्ट्र का पिछलग्गू है तब तो निश्चय शस्त्रास्त्र स्वीकार करना मात्र याचना है एक नए प्रकार की दासता का परिचायक है पर यदि लेने वाला राष्ट्र अपना व्यक्तित्व स्वतन्त्र रखता से समुन्नत रखता है तब वह मात्र मित्रराष्ट्र की उदारता का संचयन करता है। इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत अमेरिका का क्या संसार को किसी शक्ति का उपासक या पिछलग्गू नहीं। साथ ही वह इस बात को भी नहीं भूल सकता कि जहां अफ्रीका और एशिया के पड़ोसी तथा निकट के राष्ट्र बड़ी मुश्किल से भारतीय आत्मरक्षा का समर्थन कर पाए हैं, दक्षिणी अमेरिका के दूर के देशों ने सहज नीति से उसका समर्थन किया है और चीन की प्रवचना और आक्रमण को धिक्कारा है। दक्षिण अमेरिका के उन राष्ट्रों से अनायास ही हमारा मित्रभाव रहेगा।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्र इस बात को, भारत पर चीनी आक्रमण के संदर्भ में भली प्रकार समझ लें कि चीन का रूप आकाश में प्रलयंकर धूमकेतु का उदय है और यदि उन्होंने इस तथ्य को न समझा तो उनकी सांझ पर इस झुकती हुई अमयरात्रि के पार जागकर सूर्योदय देखने का भी उन्हें अवसर

४ चीनी हमला और दक्षिण-पूर्वी एशिया

चीन का भारत पर हमला हुआ है और उस हमले की परिधि सीमा के झगड़े से कहीं परे है। यह एक देश का दूसरे देश पर उसे जीतने के लिए हमला है। हमले की यह योजना पिछले पाँच सालों से चीन बनाता रहा है और हल्की फुल्की चोटों से भारत की प्रतिक्रिया का अंदाज लेता रहा है।

ऐसा नहीं कि माओ के चीन ने कोमिनतांग अथवा जापानी शत्रुओं से निजात पाने के बाद ही, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात १९४७ में ही, अपनी विजित सीमाओं को स्वायत्त करने की घोषणा कर दी हो। भारत से नेफा लेने का विचार उसकी उस योजना के संदर्भ में बना जो अपनी स्वतंत्रता के दस बरस बाद चीन ने बनाई। १९५७ में उसने प्रथम पैंतरे शुरू किये और बातचीत और समझौते का चेहरा ओढ़ सालों यह अपनी चिट्ठियों और रेडियो के प्रचार द्वारा आक्रमण की नैतिकता के लिए पृष्ठभूमि तयार करता रहा और सन् ५९ में उसने सक्रिय सैनिक उद्योग आरंभ किये। सन् ६२ के सितंबर में ही उसके धावों के दौर शुरू हुए जिनकी परिणति प्राय डेढ़ हजार मील लंबे मोर्चे पर एक साथ आक्रमण द्वारा

मध्यन्तर के अंत में समाप्त हुई।

सन् ४७ से ५७ तक दस साल का यह कालांतर उस माम
के लिए आवश्यक था जो अपने चीनी प्रकार का माइन कॉम्प
लिख रहा था। सारा काम उस योजना के अनुकूल था जिस
की पहली *मंजिल तिब्बत पर अधिकार कर तय की गई*
ऐसे बड़े कार्यों को हाथ में लेते वक्त चीन ने बराबर अवसर
का लाभ उठाया है। वह जानता है कि अमेरिका साम्यवाद
और साम्यवादी देशों का तो सदैव और सर्वत्र विरोध करता
ही है करेगा ही चीन का विरोध वह विशेष उत्साह से
करेगा। इसलिए योजना के विशेष लक्ष्य को सर करने से
पहले वह देख लिया करता था कि अमेरिका के हाथ खाली
हैं या नहीं। १९५० में चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया
जब अमरिका के हाथ कोरिया में फंसे थे। अमरिका निस्सदे
तब कोरियाई युद्ध में बुरी तरह फंस गया था क्योंकि राष्ट्रसंघ
ता बराये नाम था वस्तुत अमेरिका ही वह लड़ाई लड़ रहा था
मैं उन दिनों अमेरिका में ही था और नगर-नगर में कोरिया
लड़ाई के लिए रंगरूटों की भर्ती मैंने देखी थी यहां तक कि
कान्सक्रिप्शन (अनिवार्य भर्ती) तक की वहां नौबत आ पहुंच
थी। *उत्तर कोरिया की ओर से वह लड़ाई रूस की मदद*
चीन ने ही लड़ी और उस लड़ाई से प्रोपेगेण्डा और प्रचार का
उपयोग अमरिका के विरुद्ध उसने वैसे ही किया जैसे वह आ
भारत के विरुद्ध कर रहा है। कोरिया की लड़ाई हाल ही
खत्म हो चुकी थी जब सन् ५२ में मैं पिकिंग में था वह
आयोजित शान्ति सम्मेलन में भाग लेने वाले भारतीय शिष्ट

मण्डल (डलोगदान) के सदस्य के रूप में। और मैंने युद्ध में अमरिका द्वारा किये गए तथाकथित कीट विष के प्रयोग के प्रदर्श देखे, जिनपर सहज ही विश्वास कर लिया था, और जिनपर विश्वास कर लेना सचमुच ही सहज इसलिए था कि अमेरिका हिरोशिमा और नागासाकी का अणुबम द्वारा विध्वंस कर चुका था जिससे उसके विरुद्ध इस प्रकार की किसी बात पर विश्वास कर लेना स्वाभाविक था। आज मैं समझता हूं, वह सारा झूठ था और झूठ इस इसलिए कह रहा हूं कि मैंने अपने देश के ऊपर उसके आक्रमण के सिलसिले में चीन के झूठ प्रचार को भरपूर देखा और सुना है।

बात मैं अमेरिका के हाथ सम्के आने पर मुल्कों पर चीनी आक्रमण की कर रहा था, तिब्बत पर चीन के आक्रमण की बात। चीन ने अमरिका को अपनी निमूल मानव सस्थाओं की कारियाई मोर्चों पर झोंककर फंसा रक्खा और उधर तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। तिब्बत निस्सन्देह चीन का उपराष्ट्र रहा था और भारत तथा इंग्लैंड दोनों ने उनके इस सबंध को स्वीकार कर तिब्बत को चीन का अन्तरग माना था। स्वतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री ने उस स्थिति के सन्धिपत्र पर दो बार हस्ताक्षर भी किये थे, फिर भी तिब्बत में चीन का वह प्रबल आक्रमण ही था क्योंकि चीन 'सफ़ेद जातियों का ज़िम्मेदारी' के हथकंडे सुसज्जित हुआ बड़ी सेना के साथ प्रतिकूल और विरोधी तिब्बत में घुसा था। अमेरिका के हाथ फंसे थे।

इसी बीच दो दिशाएं और थीं जिनको जीतने की योजना

मामों के माइन बाफ में बन चुकी थी पर जिम लाचारी के कारण चीन सम्मान न कर सका। इनमें से एक उनके द्वार पर ही हागकांग था दूसरा थोड़ी ही दूर पर प्राय उसी दिशा में फ़ारमूसा था जहा उनका उखाड़ी हुई राष्ट्रशक्ति कोमिन तांग ने चांग काई शेक की अध्यक्षता म शरण ली था। पर इनका लेना लोहे के चने चबाना था क्योंकि इनका लेने के उपक्रम में तृतीय महायुद्ध का आरम्भ हो जाना अनिवार्य था। हांगकांग इग्लैंड का है और फारमूसा कोमिनतांग पर वरदहस्त रख अमेरिका का जिसके युद्धपोत चीन और फारमूसा के बीच बराबर पैट्रोल करते रहते हैं। वर्ना चीन जैसे देश के लिए हांगकांग या फारमूसा हो सकता से कुछ अधिक औकात नहीं रखता था। इतना ही नहीं कि उस दिशा म सिवा वक्त-बवक्त कुछ बड़बड़ा देने के चीन चुप रहा बल्कि फ़ारमूसा के छोटे मोटे आक्रमण तक उसने बर्दाश्त किये।

जब उधर कोई बस न चला तब चीन दक्षिण की ओर मुड़ा। यह जरूर था कि शरणार्थी दलाई लामा और तिब्बत के पक्ष में कुछ राजनीतिक दलों न आन्दोलन कर भारत के विरुद्ध चीन को शिकायत का एक मौका दिया पर उन आन्दोलनों से भारतीय सरकार का कोई सबध न था। इस सबध क अभाव में चीन को भारत से झगड़ने का कोई अवसर नहीं मिला फिर अमेरिका के हाथ भी खाली थे जिससे भारत पर आक्रमण तब न हो सका। भारत पर चढ़ाई भी तबतक इतनी आसान न थी जबतक कोरिया में होने वाले सैनिक तथा अस्त्रों आदि के नुकसान की पूर्ति न कर ली जाय और तिब्बत को पूर्णत

चीन का अंग न बना लिया जाय जिससे चीन तिब्बत में बैठ-कर भारतीय सीमा पर अपना ध्यान पूर्णतः संकेंद्रित कर सके। इसके लिए छः साल का अवसर काफ़ी था।

इस बीच चीन ने कुछ प्रयत्न महत्त्व के राजनीतिक कार्य किये। वियतनाम और लाओस ने अपने फ्रांसीसी प्रभुओं से विद्रोह कर साम्यवादी अभिरुचि घोषित की थी जिससे फ्रांस की मदद को अमरिका उधर आ कूदा था। चीन का रूस के साथ इस लड़ाई में वियतनाम और लाओस की सहायता के लिए पड़ना पड़ा। स्वतः चीन स्वयमेव कुछ फंसा होने के कारण भारत की ओर पूरा ध्यान तो न दे सका पर उसे उसके पड़ो-सियों से अलग करने का प्रबंध उसने सोच लिया।

हिमालयवर्ती अनेक देशों से उसकी सीमा लगी हुई है। उसने सीमा व्यवस्था के बहाने अपनी कूटनीति का भरपूर उद्योग किया। बर्मा से फिर समझ लेने का विचार कर उसने बगैर किसी दिक्कत के सीमा निपटारा कर लिया। दो साल पहले नेपाल में जो प्रजातांत्रिक विधान के विरोध में राजकीय रूढ़िवादी प्रतिक्रिया हुई—जिसमें संभवतः अमरिका इंग्लैंड और पाकिस्तान का भी हाथ था कम से कम उसे उनका साधुवाद तो मिला ही—उसको साम्यवादी ना क्या साधारण प्रजातांत्रिक मान्यताओं के सर्वथा विरोध में चीन ने न केवल स्वीकार कर लिया बल्कि धन-जन से उसकी सहायता की घोषणा की। नेपाल के विधाताओं को बुला-बुलाकर पिकिंग में उनका सम्मान किया और ल्हासा से काठमांडू तक सड़क बना ली जिसके अर्थ और उपयोग का अटकल लगाया जा सकता है।

इससे दिल्ली और काठमांडू के बीच की सड़क का प्रतिकार हो गया और अगर नेपाल सचेत न हुआ उसने भारत की मित्रता का रहस्य न समझा तो निश्चय वह चीनी अजगर के जबड़ों में समा जायगा। भारत और नेपाल के बीच का मन मुटाव केवल भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रतिक्रिया के कारण ही नहीं चीन के उस दिशा में प्रारम्भिक के कारण भी है।

पाकिस्तान से भी चीन की सीमा लगी हुई है। कश्मीर के कारण ऐसा होना अनिवार्य था। पाकिस्तान का सम्बन्ध अन्य देशों से विशेषकर 'नाटो' और 'सीआटो' की सन्धियों से होने के कारण चीन जानता है पाकिस्तानी सैन्य-शक्ति से अगर अमेरिका और इंग्लैंड को मैदान में उतारें लोहा नहीं लिया जा सकता। इससे उसने कश्मीर की ओर इशारा कर सन्धि और सहायता के भुलावे में उसे लटका रखा है। साथ ही चीन ने पाकिस्तान को उकसा भी दिया कि जब भारत पर वह आक्रमण करे तब पाकिस्तान पैंतरे बदल भारत पर कश्मीर आदि के अपने दावे करे और भारत को संकट में मजबूर करके जो कुछ मिल सके उससे ले ले। सार, इस तरह चीन ने पाकिस्तान को भारत से अलग उसका शत्रु और अपना हिमायती बना लिया।

अब रह गये सिक्किम भूटान और भारत। सिक्किम और भूटान की न केवल अपनी कोई शक्ति नहीं है बल्कि उसकी बाहरी सुरक्षा की जिम्मेदारी भी भारत की है। इससे उनसे निपटना भारत से निपटना था और चीन अब भारत की ओर मुड़ा। उसने हिमालयवर्ती राष्ट्रों से इस प्रकार अलग-अलग

समझौता कर लिया था और पिछले पांच वर्षों में अपनी शक्ति बढ़ा तथा तिब्बत में नौ साल तक केन्द्रित रह अब वह भारत की ओर अभिमुख हुआ। इस बीच वह भारत का छोटे-छोटे सीमा सम्बन्धी प्रसङ्गों में छेड़-छेड़ उसके विरुद्ध रेडियो से विश्वों में प्रचार भी करता रहा जिसका भारत को न पता था न भाता था यद्यपि इस की राजनीति के लिए वह अक्षम्य था।

भारत पर सीधा आक्रमण करने के लिए चीन की अपनी नीति के अनुसार यह आवश्यक था कि अमरिका के हाथ कहीं फंसे हों। पिछले महीनों में वह अवसर आ गया। अमरिका ने दुर्भाग्यवश हाल में नवोदित साम्यवादी राष्ट्र क्यूबा के सम्बन्ध में कुछ तनातनी पैदा कर दी जिस तनातनी की सरगर्मी को रूस ने क्यूबा में पहुंचकर युद्ध की स्थिति तक पहुंचा दिया और महान् सामरिक विस्फोट की आशंका क्षण-क्षण हो चली। सारा संसार ज्वालामुखी के मुंह पर खड़ा था। चीनी अजगर मुस्कराया उसने महाद्व तथा नक्शा पर झपटा मारा।

यह विशेषकर तब हुआ जब अमरिका के हाथ क्यूबा में पूरी तरह रूस के साथ फंस गए थे और जब हिन्देशिया की मूकता ने उस अजगर के जबड़ों में डाल दिया था। दूसरे बांडुंग का प्रश्न (जिसे हिन्देशिया ने उठाया था) और उससे भी बढ़कर एशियाई खेल में हिन्देशिया और भारत का परस्पर मनमुटाव इतने जानदार मसले न थे जिनकी वजह से हिन्देशिया चीन की ओर झुक जाता। ये घटनाएं उस स्थिति की परिस्थिति विशेषकर उस परिस्थिति के प्रति संकेत थीं जो छिपे-छिपे

निरन्तर चीन के प्रति हिंदेशिया के आग्रह का रूप देखी जा रही थी। इनसे कहीं बड़ी बात चीन और हिंदेशिया की मैत्री के सबूत में हो चुकी थी जिसका उदाहरण संसार के इतिहास में नहीं। वह यह कि हिंदेशिया के चीनियों को दो-नों देशों में नागरिक अधिकार प्राप्त थे चीन में भी हिंदेशिया में भी।

भारत जब सर्वथा अकेला हो गया तब चीन ने उसपर बखूबी की कसमकश के वक्त हमला किया। भारत चीन की दुरभिसंधि से अपरिचित होने के कारण पंचशील की शपथ लिए पड़ोसी के युद्धविरत तथा शांतिव्रती पड़ोसी पर आक्रमण का गुमान भी न कर सकने के कारण भारत पहले तो लड़-खड़ाया और जब अपनी चौकियों से पीछे हटते हुए आक्रमण का जवाब भी दिया तो केवल यह समझकर कि यह बस सीमा का छोटा-मोटा झगड़ा है जिसने तूल पकड़ लिया है और शीघ्र निपटा लिया जायगा। पर जब बीस-बीस हजार की डिवीजन की डिवीजन चीनी सेना तोपों और दूसरे हथियारों के साथ, समूची योजना के साथ कश्मीर से नेफ़ा तक की प्राय दो हजार मील की सीमा पर (तिब्बत में ढाई-तीन लाख सेना खड़ी कर) हमला करने लगी तब भारत ने जाना कि यह सीमा का झगड़ा नहीं चीन की प्रसर-नीति का परिणाम है। और वह सजग होकर उठा और उसने प्रत्याक्रमण प्रारंभ किया। पर तब तक उसकी सीमा का बहुत बड़ा भारतीय भाग चीन के हाथ में आ चुका था। भारत ने देशव्यापी आपद् की घोषणा की। समूचा देश उस आपद् का सामना करने को एक प्राणी की तरह मैदान में आ खड़ा हुआ। चारों ओर से जवान नेफ़ा

की ओर चल पड़े। नेता ने धन मांगा—बच्चों ने अपने गोलक खोल खरीद भेज दी सुहागिनों ने अपनी चूड़ियां मेहनतकशों ने अपनी तनख्वाहें। नेता ने जवान मांगे—बहनों ने अपने भाई निछावर कर दिये सुहागिनों ने अपने मर्द माताओं ने अपने लाल।

चीन सकते में आ गया। उसे आशा न थी कि भारत इतना सजग है कि अपनी आजादी का मोल वह जान से चुकायेगा और उसने कुछ घिनौने प्रचार शुरू किये—नेहरू देश की नारियों के तन से गहने छीन रहा है मजदूरों-किसानों के पेट का रोटी! और जब भारतीय कम्युनिस्टों की केंद्रीय समिति ने प्रस्ताव पास कर अपना निस्सीम सहयोग प्रधानमंत्री को दिया तब चीन के रेडियो ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को प्रतिक्रियावादी और अमरीकी साम्राज्यवाद का जरखरीद गुलाम कहकर धिक्कारा। पर जब भारत के सभी राजनीतिक दलों ने सामाजिक संस्थाओं ने लेखक संघों ने अपना सर्वस्व राष्ट्र की सुरक्षा के लिए नेता को समर्पित कर दिया तब चीन के कालिख लग गई और उसने एक नया रुख अख्तियार किया। बाईस नवम्बर को उसने एलान किया कि वह लड़ाई बंद कर देगा और पहली दिसम्बर को उसके सैनिक सात नवम्बर सन् १९५९ की चीनी अधिकार-रेखा के पीछे चले जाएंगे। आज वे उस दिशा में हट जाने के प्रचारात्मक उपक्रम भी कर रहे हैं पर हमें बखूबी मालूम है कि प्रसर-लिप्सा घाटे से नहीं शांत होता। वह ऐसी आग है जिसमें जितनी भी जमीन डाला, ईंधन का काम करेगी और प्रसर का उदर बढ़ता जायेगा।

लिया गया। भीतरी विराधों का यह प्राभास फिर भी मिले बगैर न रहा कि ममस्त कई तरह के हैं—पूर्वी राष्ट्रों के अपने, पश्चिमी एशियाई अरबों के अपने अरबों और तुर्कों के अपने पाकिस्तान और ईरान के अपने। फिर भी पंडित नेहरू के लिए पंचशील के मन्त्र को रोड़ बनाकर सब प्रतिनिधियों ने शपथ ली यद्यपि जैसा उसके आक्रमण से प्रकट है—चीन की शपथ सर्वथा झूठी थी। आज व्यक्त हो गया है कि पंचशील उतना नीति नहीं जितना नैतिक पावना है जिसे जो राष्ट्र चाहे करते चाहे न करते।

बांडुग की तथाकथित एशियाई एकता का राज दो साल हुए बेलग्रेड में खुला। यूगोस्लाविया ने एशिया-अफ्रीका में एक नई पक्ष-निरपेक्ष नीति का अवलम्बन किया था और मिस्र तथा भारत से विशेष भाईचारा का व्यवहार निभाया था। पर बेलग्रेड में जो एशियाई-अफ्रीकी और पूर्व-यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ तो वह बजाय समान भूमि के बजाय सतही भूमि के विरोधी द्वन्द्वों का अखाड़ा साबित हुआ और विरोधों को समाप्त-संभालते जो वहाँ की कार्यवाही की रिपोर्ट छपने में देर लगी तो संसार पर यह भेद खुलते ज़रा देर भी न लगी कि राष्ट्रों में एकता कितनी है विरोध कितना है। उसका स्पष्ट परिणाम और महत्त्व का परिणाम यह हुआ है कि आज दूसरे बांडुग सम्मेलन का कुछ राष्ट्रों को छोड़ प्राय सर्वत्र विरोध हुआ है। भारत तो किसी स्थिति में उसके संभावित अधिवेशन में भाग लेने को तैयार नहीं। और यह प्रस्ताव भी सबसे अधिक उस हिंदेशिया का है जिसके पास न तो अपना

कोई पौरुष है और न अपनी कोई नीति। लगता है, उनका बस एक ही आचरण शेष रह गया है—चीन के मनोभावों को कायरूप में परिणत करने का साधन बनना। स्थिति यह है कि यदि चीन का दबदबा उसके भारतीय आक्रमण के बावजूद बढ़ा, और उसके साम्राज्यवादी दाने तोड़ नहीं दिये गए, तो सबसे बड़ा अहित स्वयं हिंदेशिया का होगा और चीनी 'सूडेटनलैंड' का 'भास्टिया' वही बनेगा क्योंकि वही समूचे एशिया में एक राष्ट्र है जहाँ चीनियों को स्वदेश चीन के अतिरिक्त स्वयं हिंदेशिया में भी नागरिक हक़ हासिल हैं। चीनी आक्रमणों के संदर्भ में जब-जब चीन की उन राष्ट्रों में प्रसार की नीति लागू होगी तब-तब उनमें रहने वाले चीनियों की स्थिति आक्रान्ता के 'बर्छे की नोक' (स्पियर हेड) की हो जायेगी और तब आक्रान्त राष्ट्र की कमज़ोरी उसी मात्रा में प्रकट और सिद्ध होगी जिस संख्या में चीनियों का वहां निवास होगा। और इस प्रकार के प्रवासी चीनियों की संख्या दक्षिण-पूर्व एशिया के राष्ट्रों में कितनी है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। बस इतना ही कह देना पर्याप्त है कि आक्रमण के उस काल इन प्रवासियों की उस महती संख्या के कारण आक्रान्त राष्ट्र भयानक संकट में पड़ जायगा।

भारत के प्रधानमन्त्री पंडित नेहरू ने चीनी आक्रमण होने के बाद संसार के राष्ट्रपतियों से जो पत्र लिखकर इस अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक अनाचार के विरुद्ध अपील की है, उसके उत्तर में एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों ने कुछ नेक सलाह दी है। अभी तक भारत पिछले पंद्रह सालों से दूसरों को सलाह

देता रहा है अब उनको स्वयं सलाह सुनने का अवसर आया है। और सलाहें ऐसी आई हैं जिनसे भारत को चोट लगी है, झुंझलाहट हुई है। पर तीखी प्रतिक्रिया के बावजूद सलाहें तो हमें बर्दाश्त करनी ही होंगी। गनीमत है कि ये सलाहें आचरण के लिए नहीं मात्र सुनने के लिए दी गई हैं। अधिकतर ये 'पोलिटिकल कामनप्लेस क्लिच' या एरेंट नान्सेन्स' हैं जिन्होंने और कुछ हो या न हो कुछ बातें निश्चय ही व्यक्त कर दी हैं। यहां उन सलाहों का विधिवत् उल्लेख अथवा उनपर टिप्पणी अपेक्षित नहीं मात्र उनके पीछे की मनोवृत्ति पर यहां प्रकाश डालना अभीष्ट है।

पहली और सामान्य साधारण सलाह तो यह रही है कि 'भारत और चीन मिल-बैठकर शान्तिपूर्ण साधनों से अपने सीमावर्ती झगड़े निपटा लें तो हमें प्रसन्नता होगी। इसका अर्थ पहले तो बस इतना है कि आप मात्र औपचारिक वक्तव्य कर रहे हैं और ऐसा केवल इसलिए कर रहे हैं कि या तो आप स्थिति में दिलचस्पी नहीं रखते या अधिक सम्भव आप इस आक्रमण के खतरे से दूर हैं यह बात अलग है, (जो संभवतः हमारे रेडियो आदि द्वारा तथ्योद्घाटन की कमजोरी के कारण है) कि आप पहले यह समझें कि यह सीमावर्ती झगड़ा नहीं प्रसर-नीति द्वारा सयोजित आक्रमण है और कि यह आक्रमण उस पंचशील के सत्यदृष्टा शांतिप्रिय पड़ोसी भारत पर कृतघ्नतापूर्वक हुआ है जिसके सालों साल के राष्ट्र संघ में किये उपकारों का यह आक्रांता द्वारा बांडुग में पंचशील के शपथ ग्रहण के बावजूद प्रत्युपकार है।

मैं उन जापान आदि राष्ट्रों की बात नहीं कहता जिन्होंने इस आक्रमण को धिक्कारा है, केवल उनकी कह रहा हूं जिनके साथ भारत का प्राय चोली-दामन का साथ रहा है, उन मिस्र (यू० ए० आर०—संयुक्त अरब प्रजातन्त्र), घाना आदि मित्रों की। मिस्र का रुख पंडित नहरू के नैतिक आक्रोश के परिणाम में बदल गया है, यद्यपि उसके पत्र 'अल अहराम' ने अभी तक बलपूर्वक स्पष्ट वक्तव्य नहीं दिया। चीन के सन्निमित्र रूस ने प्रायणीय भाव के संदर्भ में निःसंदेह मिस्र के अस्पष्ट संदेह-प्रबल वक्तव्य का अर्थ समझा जा सकता है। फिर भी भारत उलटकर उससे पूछ सकता है कि सन् सत्तावन में मिस्र में स्वेज-संबंधी एक घटना घटी थी—इंग्लैंड और इस्रायल ने उस पर संयुक्त हमला कर दिया था—उस समय भारत ने उस हमला घोषित कर राष्ट्र संघ की ओर से नील की घाटी की रक्षा के लिए अपनी सेना भेजी थी और दोनों राष्ट्रों की खीझ का वह अनायास शिकार हुआ था। अगर भारत तब मिस्र के प्रति सामान्य राष्ट्रों की भांति औपचारिक वक्तव्य करता अथवा संदेह या द्वैधीभाव का आचरण करता तब मिस्र की प्रतिक्रिया क्या होती? प्रसन्नता की बात है कि मिस्र ने अब स्थिति को ठीक समझकर भारत और सत्य के अनुकूल रुख लिया है।

घाना साधारणतः मित्रराष्ट्र है, ब्रिटिश राष्ट्र संघ का भारत के साथ सदस्य है। उस मित्रराष्ट्र का सदस्य पाकिस्तान भी है पर निःसंदेह वह अमित्र राष्ट्र है। पर मजे की बात है कि पाकिस्तान से भी कहीं ज्यादा बदसूरती का आचरण घाना कर

रहा है। उसके राष्ट्रपति एनक्रुमा न भारत ने जिसका असाधारण आतिथ्य किया था इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री मैकमिलन को पत्र लिखा कि भारत को वे अस्त्रास्त्र न दें वरना वह सीमावर्ती झगड़ा विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लेगा। इस वक्तव्य में ब्रिटिश राष्ट्र संघ में भारत और पण्डित नेहरू की शालीनता बेलग्राद की पृष्ठभूमि रूस में तदनन्तर पं० नेहरू और एनक्रुमा के प्रति सोवियत के प्रकट स्वागतीय आवभगत मे विपरीत अन्तर आदि सभी का अंक सम्मिलित था। मैकमिलन ने उस पत्र का समुचित उत्तर भी दे दिया।

एक सलाह यह भी दी गई है, कि इस आक्रमण का विशेषत सामने रखते हुए भारत का अपने पड़ोसियों या दोनों महाद्वीपों के राष्ट्रों के साथ कुछ बेहतर व्यवहार होना चाहिए। संभवत अनेक लोगों का मत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ मे अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों विशेषकर अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भारतीय प्रतिनिधियों का व्यवहार कुछ अहङ्कारपूर्वक होता है। निश्चय यदि ऐसा है तो भारतीय सिविल सर्विस वर्ग से सामान्यत अपेक्षित भी है तो इसका सबल प्रतिकार होना चाहिए। अपनी शालीनता प्राचीन संस्कृति और बड़े भाईपने का दम्भ भारत को कम करना चाहिए।

भारत के दूसरे पड़ोसी जिनके साथ उसका कुछ मनमुटाव या झगड़ा है नागालैंड नेपाल और पाकिस्तान हैं। नागालैंड भर का प्रांत है, यद्यपि उसके स्वतन्त्र 'सोव्रन स्टेट' होने का नारा गया है। कुछ राष्ट्रों ने नागाओं को भड़काया भी है, अपने देश से गुजरने की उन्हें राह दी है और इंग्लैंड में उनके

गद्दार नगाओं को बिठा भी रखा है ताकि फ़ौजें आदि भारत के खिलाफ़ जब संयुक्त राष्ट्र संघ में मसला उठाएं तब वे उनकी मदद करें। अगर नागाओं से भारत का व्यवहार बेहतर हो जाय तो, उनका कहना है इससे नागालैंड की सीमा पर इतनी भारतीय सेना न रखनी पड़े और उसका उपयोग वह चीनियों के खिलाफ़ कर ले। नागाओं ने विशेषकर अंगामी फ़ौजों ने, चीनियों से लड़ने के लिए नागाओं की सेवाएं अर्पित की हैं। पर चाहे जितना भी अपना तथाकथित बेहतर व्यवहार भारत नागाओं के प्रति शुरू कर ले क्या उनपर विश्वास करना नीति-परक होगा? यदि लड़ाई चली तो आसाम व शिवसागर पार नागालैंड में पहुँचे आक्रान्ताओं को कितनी देर लगेगी? और अगर उन्होंने नागालैंड पहुँच उस स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित कर लिया जो गद्दार नागाओं की मांग है तो सलाह देने वालों की राय में शायद भारत को अपनी ही सीमा पर अपने ही राष्ट्र का अङ्ग काटकर स्वतन्त्र और शत्रु राष्ट्र की कील अपनी कांख में चुभा रखनी चाहिए। और अगर ऐसा होना संभव कर लिया जाय तो शत्रु की स्वतन्त्र नागालैंड को पीछे कर आसाम की पतली घाटी क्षीण पूर्वी पाकिस्तान से मिल जाय तो? फिर तभी अगर पाकिस्तान भी दुरभिसन्धि करे और जिस 'प्लेबि-सिट' की उसने कश्मीर में पुकार की है उसकी आसाम में भी मांग करे तब? फिर तो नेफ़ा की यह गति (जब तक हम उसे हमलावरों से छीन नहीं लेते) है ही नागालैंड और पूर्वी पाकिस्तान के बीच बन ही रहे, उधर आसाम पर लगी बदनज़र भी शत्रुओं को फल उठे। फिर नागालैंड से समझौता अगर

राष्ट्रों से बचना है तो उनकी माँग को उस स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने की है। क्या संसार का कोई देश नागालैंड की इस माँग को स्वीकार कर सकता है—रूस, चीन और अमेरिका की तो बात ही अलग है ? फिर जैसा व्यवहार नागालैंड के साथ भारत का है उससे भिन्न अब और हो कैसा सकता है ? अगर हम उस दिशा में किसी नरमी का बात सोचें भी कश्मीर के स सम्बन्ध की बात भी तो वह अपने इस खतरे के समय कम सोच सकते हैं ?

नेपाल को हमने बिलकुल नाराज नहीं किया है और न हमारा उसके प्रति साधारण ईमानदार प्रजातन्त्र राष्ट्र से भिन्न कोई प्रतिक्रिया अथवा आचरण ही हुआ है। इस सम्बन्ध में साम्यवाद की शपथ लेने वाले चीन का उमकी प्रजातन्त्र को मिटा देने वाली राजसत्ता के प्रति अनुकूल व्यवहार उसकी अपनी शपथ के सर्वथा प्रतिकूल है। भारत न तो अपने निश्चित अनुमान के सम्बन्ध में भी आज का नेपाल को निराश नहीं किया है और अपना नेपाल विकास सम्बन्धी सहायता देने को तैयार है। जो भारतीय सीमा पर नेपाली प्रजातान्त्रिक तत्व प्रजातान्त्रिक शक्ति के पुनरुद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं उनसे भारत का कोई सबंध नहीं। फिर भी जहां तक हो सके इस सद्भावना में उनका अनुमोदन निस्संदेह दोनों देशों में कटुता बढ़ाएगा जो इस वक्त भी कुछ कम नहीं है। वसे नेपाल को स्वयं सोचना है कि उसका सबंध चीन से अधिक ययस्कर है या भारत से ? प्रसन्नता की बात है कि इधर वहां के कुछ पत्रों में इस स्थिति के अनुकूल रुख लिया है।

इसी सन्दर्भ में पाकिस्तान की पड़ोसी प्रवृत्ति का सिंहावलोकन कर लेना भी कुछ अनुचित न होगा। पाकिस्तान के भारत के साथ कई प्रकार के झगड़े हैं—कश्मीर का कच्छ का नदियां के जल का शरणार्थियों सम्बन्धी धन का। कश्मीर का झगड़ा इनमें प्रधान है (वैसे कच्छ का भी भारत के लिए कुछ कम महत्त्व नहीं जिस पर पाकिस्तान ने सीधा आक्रमण द्वारा अधिकार कर लिया है)। 'प्लेबिसिट'-सम्बन्धी वक्तव्य की एक चूक ने कश्मीर के झगड़े को तूल पकड़ा दिया। वरना बात साफ़ थी। भारत की स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि में एक एलान हुआ था—जो देशी राजा चाहे अपनी इच्छा के अनुकूल अमुक तिथि के भीतर पाकिस्तान या भारत के साथ अपना राज्य लेकर सम्मिलित हो सकता है। इसके अनुसार कश्मीर के महाराज हरीसिंह ने भारत को कश्मीर समर्पित कर दिया। अन्य राज्यों की ही भांति कश्मीर की राज्यसत्ता भी भारत से आ मिली। वैधानिक उपचार समाप्त हो गया।

पर पर बात समाप्त नहीं हुई और संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में कितनी ही बातें हुई जिनमें से कुछ एक को कुछ दूसरे को पसन्द नहीं आई और झगड़े की स्थिति, कश्मीर जनता तथा उसकी विधान सभा के निर्वाचन आदि द्वारा अभिव्यक्त मत के बावजूद आज भी बनी है। पाकिस्तान ने चीन के साथ भारत के ख़िलाफ़ छिपे-छिपे कुछ प्यार का व्यवहार किया है। हम यह यहां नहीं कहना चाहते कि पाकिस्तान का यह आचरण नेपाल के चीन के प्रति आचरण से कितना भिन्न है पर इतना ज़रूर कहेंगे कि भारत का ख़्याल करने का

मौका पाकिस्तान ने अच्छा सोचा है। पाकिस्तान चीनी हमले और उसके नतीजे को तो नित्य अपने अखबारों रेडियो भाषणों आदि से जाहिरा (परदे के पीछे जो हो रहा है वह अलग है) सराह ही रहा है अब उसने वह रुख भी पकड़कर अपना लिया है जो कायर राष्ट्र शत्रु की बेबसी में लिया करता है। उसने स्पष्ट घोषणा की है कि हम भारत के इसी संकट काल में अपनी मांग पूरी करनी होगी।

भारत को पाकिस्तान से बात करने में कोई आपत्ति कभी नहीं रही है और जब ब्रिटिश कामनवेल्थ के सफ़री समझौते का बीज बो गए हैं तो कुछ अजब नहीं जो समझौता हो भी जाय। पर निस्सन्देह पाकिस्तान की नियत दुर्दिन में पड़े शत्रु के प्रति ओछी नियत है जो यह बस्तर है कि राजनीति में नैतिक आचरण की अपेक्षा पाकिस्तान से कोई नहीं करता। समझौता यदि मान और ईमान का हो तो भारत निश्चय करेगा पर पाकिस्तान आदि के इस भारतीय संकट से लाभ उठाने के प्रयत्न का उत्तर एकमात्र भारत को अपने शक्तिमान सिद्ध करने से ही दिया जा सकेगा। यदि भारत ने जैसा वह कर रहा है, अपनी जनता की शक्ति का उपयोग कर चीन के प्रति दृढ़ता दिखाई और उसके आक्रमण को व्यर्थ कर अपनी भूमि फिर से जीत ली तो पाकिस्तान की तरह के देशों की कमीन अवसरवादी लाभ की प्रवृत्ति का भी वह सफलतापूर्वक प्रतिवाद कर सकेगा।

६ | चीन का सतही मार्क्सवाद और राजनीतिक आत्मघात

चीन ने जो दम्भ और अहंकार का रवैया अख्तियार किया है वह स्वयं उस ही से डूबेगा। अहंकार अपनी ही स्थिति को अहम् समझता है दूसरों का अपमान ही उसके अहम् की साधना में इष्ट हो जाता है और अन्तत शत्रुओं की अमित सख्या का सृजन कर अहकारी अपनी ही निर्मित प्रतिक्रिया से नष्ट हो जाता है। चीन के अहकार का अजगर निस्सदेह उस सील जाएगा।

भारत की सीमा की कुछ जमीन जो उसने धोखे और हमारी सुस्ती से ले ली है उससे उसके दर्प और अहकार को आहार मिला है। उसने हमारे अनजान जो आक्रमण कर हमारी पूर्वी सीमा के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया है, उससे उसे विजयी होने का आभास हो गया है और वह समझने लगा है कि उसे, जिस शर्त पर वह चाहे सुलह करने का हक है।

अपने सभी प्रकार के गन्दे-मूठ्ठ-झूठे प्रचार से युद्ध के पहले और उसके दौरान में, ससार के सामने भारत पर आक्रमण का आरोप लगाकर वह अपने आक्रमण की नैतिकता सिद्ध

करने का प्रयत्न करता रहा है। फिर कुछ सफलता प्राप्त कर उदार विजयी के आडम्बर से अपनी मनमानी एकतर्फा शर्तें हवा में उसने उछाली हैं, इस प्रचार-प्रभाव के साथ कि भारत इतना कमजोर है कि चीन जिस मात्रा तक चाहे उसे जीतकर यथेच्छ आचरण कर सकता है और भारत के पास सिवा दूसरों के सामने गिड़गिड़ाकर मदद मांगने के कोई चारा नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि शांति की शपथ लेने वाले विस्तार विरोधी नीति के व्रती राष्ट्र को अशांति और आक्रमण-काल में कल्याण की अन्यत्र से याचना करनी होगी और ऐसा करना सर्वथा नैतिक भी है। यह उस मात्स्यन्याय का निराकरण है जिसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' हुआ करती है जिसका परिचय चीन आज दे भी रहा है। यह सही है कि इस प्रकार जब तक निरस्त्र और शांतिवादी राष्ट्र अपने पक्ष में स्थिति समझाने और समाजनिष्ठ संसार को अपनी ओर आकृष्ट करने के उपक्रम करता है तब तक आक्रान्ता अपनी समठित शक्ति द्वारा उसकी काफ़ी हानि कर चुकता है पर आंधी की शक्ति और गति चाहे जितनी प्रबल चाहे जितनी तीव्र हो, वह बहकर ही रहेगी टिक नहीं सकती जिससे आक्रमण के दीर्घकालिक होते ही जो अनिवार्य है, राष्ट्रों की सचित नैतिकता के प्रति एकाग्र होकर रहेगी और आक्रांता को अन्तत मुह की खानी पड़ेगी।

इस संदर्भ में हम जरा इस युद्ध के साबधि सत्य को समझें—चीन ने भारत पर आक्रमण किया है। वह कहता है

उसका यह आक्रमण नहीं भारतीय विस्तारवादी नीति से संचालित उस सरकार के आक्रमण के प्रति उसका यह आत्म रक्षा में प्रत्याक्रमण है। उसको इस नीति की जानकारी के सामने कैफियत देने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि इस प्रसङ्ग का सत्य उनसे छिपा नहीं है। इस प्रसङ्ग की वास्तविकता से हटकर ही चीन ने एक ऐसी नीति का अवलम्बन किया है जो उसकी आचरण की स्थिति में स्वाभाविक ही आक्रमक राष्ट्र को करना पड़ता है—उसने अपनी प्रकृत और शपथपूर्वक गृहीत नीति को ही सर्वथा त्याग दिया है। उसने बांडुंग में पञ्चशील की जो अन्य एशियाई राष्ट्रों के साथ शपथ ली थी उस तो उसने बेशर्मी से तज ही दिया है अपने समान धर्मी राष्ट्रों को भी अपनी नई दुःशील नीति द्वारा चुनौती दी है।

मार्क्सवादी राष्ट्रों ने कालान्तर में अपनी वह पुरानी नीति कि जो राष्ट्र मार्क्सवादी नहीं जो हमारे साथ नहीं, वे हमारे शत्रु हैं छोड़कर साम्यवादी तथा पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ सहअस्तित्व की नई नीति स्वीकार की है। चीन (और उसके पिट्ठू अल्बीनिया) ने उसका भी अपनी तंग स्थिति में प्रतिकार किया है और वह अब यहाँ तक कहने लगा है कि सहअस्तित्व की नीति मार्क्सवाद विरोधी है उसकी जीर्णोद्धार-कर्मी है और कि युद्ध आवश्यक तथा साधनीय है। इसे आज संसार का कोई मार्क्सवादी राष्ट्र स्वीकार नहीं कर रहा है और सर्वत्र चीन की इस नीति और भारत पर उसके आक्रमण की दबे-दबे निन्दा हो रही है।

इस निन्दा ने अब स्वर भी धारण कर लिया है। क्योंकि प्राग और रोम के कम्यूनिस्ट कांग्रेसों ने खुले जोरदार शब्दों में इस चीनी नीति की भर्त्सना की है। उन्होंने चीन की इस सहप्रस्तित्व विरोधी शांतिविरोधी नीति को समाज वादी हितों का संहार करने वाली एलान किया है और इतालवी कम्यूनिस्ट दल के नेता तोग्लियाती ने तो भारत के प्रसङ्ग का शुभ शब्दों में उल्लेख करने से भी परहेज नहीं किया है। रोम में हुई पिछली कांग्रेस में सहप्रस्तित्व और शांति के मसले पर चीनी नीति की निन्दा में जो प्रस्ताव ६०० प्रतिनिधियों ने पास किया उसका विरोध केवल दो प्रतिनिधियों ने किया जो दोनों चीनी थे। उनमें से एक के दिए भाषण में किए अनंत झूठ के प्रयोग के प्रतिकार में तो तोग्लियाती ने कहा कि प्रिय कामरेड तुमने जो बातें कही हैं उनका अस्तित्व नहीं वे सर्वथा मिथ्या हैं और तुम्हारे झूठ के बलबले का यह 'बूमरैंग' मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं लौटकर तुम्हारे ऊपर ही चोट करेगा।

पश्चिम के राष्ट्रों में इटली के कम्यूनिस्ट दल की संख्या सबसे बड़ी है। सारे पाश्चात्य कम्यूनिस्ट दलों ने इतालवी दल की इस चीन सम्बन्धी निन्दा का अनुमोदन किया है और उनकी चीन के संदर्भ में यह प्रवृत्ति कुछ तत्काल नहीं उत्पन्न हो गई है। चीन शांतिविरोधी जिस आचरण का जिस निन्दनीय और राष्ट्रघाती मड़काऊ नीति का कुछ काल से निरंतर उपयोग करता रहा है वह भारत पर आक्रमण से भी पूर्व की है। मास्को की उस शांति और निरस्त्रीकरण कांग्रेस में मैं

भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से मौजूद था जब रूस के प्रधान मन्त्री और रूसी कम्यूनिस्ट दल के प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव ने अपने भाषण म शांति के प्रसङ्ग म भारत और प्रधानमन्त्री नेहरू का दो-दो बार उल्लेख किया और चीन या माम्रो का एक बार भी नहीं जिससे चीनी प्रतिनिधि माम्रो तुन ने मुह बिचका दिया था और रूस तथा चीन के परस्पर सम्बन्ध में तनाव कुछ और बढ़ गया था। रोम की कांग्रेस का प्रस्ताव और तोग्लियाती की कटु प्रतिक्रिया वस्तुत चीनी प्रसरनीति की विरोधी परिणति थी।

अब वास्तविक स्थिति यह है कि चीन कम्यूनिस्ट राष्ट्रों की जमात में भी शामिल नहीं, बिलकुल अकेला है। चीन अपने ही दंभ का इस क़दर शिकार है कि वह संसार के अन्य कम्यूनिस्ट दलों को भी धिक्कारने से नहीं चूकता। भारतीय कम्यूनिस्ट दल की केन्द्रीय समिति न जब चीनी आक्रमण को विस्तारवादी हमला एलान कर, चीन को धिक्कारा और दल के सदस्यों को देश के सुरक्षा आंदोलन को तन मन से सहायता करने का आदेश दिया तब चीन की बौखलाहट सुनने के लायक थी। उसने भारतीय कम्यूनिस्ट दल को प्रतिक्रियावादी घोषित किया और उसके विरोध में अपना ही आचरण दृष्टांत रूप में प्रस्तुत किया, कि किस तरह चीन पर आक्रमणों के समय चीनी कम्यूनिस्ट दल ने उनका प्रतिकार नहीं किया था। चीन ने पहले तो अपना आक्रमण सिद्धांतवादी सिद्ध करने की कोशिश की (जिसका न तो संसार के किसी कम्यूनिस्ट दल को धोखा है, न भिन्न सहअस्तित्वविरोधी चीनी नीति के प्रति

आक्रोश के अतिरिक्त कोई मोह है) और अब वह उससे चूका तब उसने भारतीय बल को ही ललकारना शुरू किया।

अकेला चीन, सर्वत्र से निष्कासित-सा भारत पर टूट रहा है। वह यह भी जानता है कि वह भारत को आत्मसात नहीं कर सकता। ऐसा कर सकना असम्भव है। साधारणतः संसार की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में ऐसा हो सकना ही सम्भव नहीं था और अब तो मानो हो समूचा भारत उसके निक्षेप राजनीतिक बल तक एक व्यक्ति की तरह मन प्राण से चट्टान की भाँति टकराने को सामने खड़ा है।

अभी-अभी चीन ने अपनी कमीन उदारता का आभास युद्ध बन्द करके दिया है। पर इससे न तो उसका यही संकेत हमें गवारा है कि वह महाबली है और जब चाहेगा हमसे जो चाहेगा छीन लेगा और न यही कि अपनी शान्तिपक्षीय नीति के कारण ही उसने ऐसा किया है। वह यह भी जानता है कि किस हद तक रूस उसकी मदद कर सकता है। रूस की चुप्पी भारत के हित की रही है रूस का भारत को वायुयान-विक्रय पर अमल करना चीनविरोधी सत्यनिष्ठ पद्धति का परिचायक है, जिससे, और कारणों के अतिरिक्त चीन का रूस के प्रति असद्भाव बढ़ेगा। सही कि रूस और चीन संधि द्वारा संयुक्त हैं और रूस चीन की सहायता करने को सन्नद्ध है, रूस वस्तुतः उन सारे साम्यवादी राष्ट्रों पर हुए आक्रमण के प्रतिकार में उनकी सहायता करेगा पर उनके आक्रमण में सहायक होकर नहीं मात्र उन पर हुए आक्रमण के प्रतिकार में। क्यूबा का प्रसङ्ग प्रत्यक्ष है जिससे अमरीकी समाशंकित आक्रमण का संकट

इससे ही रूस ने अपना हाथ खींच लिया है और जिस प्रसङ्ग में चीन ने उसे असंयत मात्रा में गालियाँ दी हैं जिस रूसी आचरण को संसार के अन्य राष्ट्रों और स्वयं अमेरिका के साथ समस्त साम्यवादी राष्ट्रों ने भी साधुवाद दिया है। इससे ज़ाहिर है कि भारत का प्रसङ्ग न कोरिया का, न क्यूबा का हाल से बल्कि युद्ध चीन के आक्रमण का हाल से इस युद्ध में रूस चीन की मदद से निश्चय ही हाथ खींच लेगा। वस्तुतः उसने खींच ही लिया है विशेषकर इसलिए कि वह भरपूर जानता है कि इस युद्ध से चीन के ऊपर किसी तरह का खतरा न तो गुज़र रहा है, न गुज़रने की संभावना है। उसे निश्चय ही यह किसी हालत में गवारा न होगा कि मित्र राष्ट्र को अकारण और सिद्धांत विरोधी परिस्थिति में चीन के मान अहंकारपूर्ण विस्तारवादी नीति के प्रसार में वह सहायक होकर नाराज़ करे, न उसकी नैतिकता ही इस प्रकार उस भारतीय राष्ट्र को नष्ट करने में सहायक होगी जो अनेक मंचों में संयुक्त राष्ट्र संघ के 'फ़ोरम' पर उसका सदा सहायक रहा है।

चीन परिणामतः दोनों ओर से मारा जाएगा। राष्ट्र संघ में तो उसे जगह नहीं ही है साम्यवादी राष्ट्रों से भी वह प्रायः बहिष्कृत है। यह अकेली स्थिति तभी गवारा हो सकती थी जब रूस की तरह वह शक्तिमान संगठित तथा विकसित होता और अपने उपग्रहों से सहायता—खनिज आदि वस्तुओं की—उसे सहज प्राप्य होती। पर मित्र राष्ट्रों से उसके सम्बन्ध का एलान तो तोग्लियाती ने कर ही दिया है, अपना आंतरिक विकास भी उसने कितना किया है यह जानकारों के

लिए मनमाना नहीं है। सम्भवत संसार के किसी देश को विकास की दिशा में इतना नहीं करना है जितना चीन को अपने भौगोलिक विस्तार के संदर्भ में, करना है। उसकी यह प्रसरनीति विशेषकर भारत के मूल्य पर उस मित्र राष्ट्र और पड़ोसी पर आक्रमण कर, अपनी ही जानलेवा सिद्ध होगी।

औरों से ज्यादा स्वयं चीन को जान लेना चाहिए कि साधारणतः असामरिक उदासीन भारत को भी चुपचाप हड़प जाने की शक्ति किसी में नहीं है और आवश्यक अपनी रक्षा में सन्नद्ध को कोई, विशेषकर अपने घर के भीतर सर्वथा असाहिष्णु और अपनी गाय सोची जनता को युद्ध के मोर्चे पर क्रूरतापूर्वक हांक ले जाने वाला चीन तो किसी हालत में उससे छीन न सकेगा। हां चीन स्वयं अपनी ही शक्ति क्षीण कर, नष्ट निश्चय हो जाएगा। अकेला हो जाने से, उसे अन्य राष्ट्रों से युद्धावश्यक उपकरण न मिलने से, घर के भीतर अपनी ही स्थिति कठिन होने से उसे अपने ही प्राणों का अवसद होगा। पर इस स्थिति में अपने प्राण ही कब तक कायम रह सकते हैं? अपना आक्रमण चीन का आत्मघात सिद्ध होगा।

७ चीनी आक्रमण और साहित्यकार

सन् १९५० की बात है फ़रवरी महीने की जब दिवंगत डा० आइन्स्टाइन ने प्रिन्स्टन के फुल्डहाल के अपने कमरे में मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि एक राष्ट्र प्रसर-नीति से प्रेरित होकर अन्य राष्ट्र पर आक्रमण करे और उस आक्रमण में सहायता के लिए देश के वैज्ञानिकों से सहायता का आग्रह करे तो क्या वैज्ञानिकों का सहायता देने से इन्कार कर देना उचित और नैतिक होगा। उन्होंने कहा था "निश्चय ! हाँ" उनका विश्वास था कि वैज्ञानिकों का यह आचरण न केवल देशद्रोही होगा बल्कि सर्वथा मानवीय और नैतिक होगा।

पांचवीं सदी ईसा पूर्व जब एथेन्स के प्रसिद्ध जनरल आल्किबियदीज़ ने सिसिली पर आक्रमण किया तब एक ग्रीक नाट्यकार ने नाटक लिखकर उस आक्रमण का विरोध किया, उसे अनैतिक कहा और उस आक्रमण की पराजय से आक्रमण को हास्यास्पद भी बना दिया।

इनके अतिरिक्त भी साहित्य के इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाएंगे जहां साहित्यकार ने अपनी आवाज आक्रमण के विरोध में उठाई है। पता नहीं किसी चीनी

होना चाहिये।

पर यह तो हुई आक्रमण के संदर्भ में साहित्यकार की नैतिक प्रतिक्रिया की बात। अब हम तनिक इस बात पर विचार करें कि भारतीय साहित्यकार को इस संबंध में चीनी आक्रमण के संकट काल में करना क्या चाहिये। भारतीय साहित्यकारों के एक वर्ग की—प्रगतिशील लेखक-वर्ग की—सा सदा से यह मान्यता और दर्शन रहा है कि साहित्य सर्वथा राजनीति-निरपेक्ष नहीं हो सकता कि उसका संबंध साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से जीवन से बना होने के कारण उसमें होनेवाले राजनीतिक परिवर्तनों के अनुकूल ही साहित्यकार की प्रवृत्ति भी परिवर्तित होती जाएगी और कि जो साहित्य कार जितना ही अधिक जीवन और समाज के प्रति अनुरक्त होगा—चूंकि राजनीति जीवन को सदा सर्वत्र उद्वेलित करती, उसे परिवर्तित करती रहती है—राजनीतिक उथल पुथल से उतना ही घना उसके कृतित्व का संबंध होगा। आज का संकट वस्तुतः जीवन पर आघात का संकट है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर जीवन का पर्याय सारे धर्मों की साधना का मूल है—जिसके प्रतिकार की भावना अगर साहित्यकार के मानस में प्रबल न हुई, उसके कृतित्व में लेखनी के माध्यम से न उतरी तो निश्चय ही उस जीवन की असाधारण क्षति हो जायेगी जो स्वयं उसके अस्तित्व का कारण है। सन्तोष की बात है कि इस दिशा में न केवल वह प्रगतिशील वर्ग बल्कि समूचा भारतीय लेखक समुदाय समानमानस, एकाग्चित्ती हो उठा है और देश के सारे राज्यों से देश की

जनता के प्रति त्याग और विसर्जन के लिए, प्राणोत्सर्ग तक के लिए उसने आवाज उठाई है। प्रकट है कि इस संकट के प्रतिकार का प्रयत्न हो रहा है।

देश के संकट काल में शत्रु के प्रतिक्रिया और इस प्रतिक्रिया के परिणाम में साहित्यिक उपक्रम स्वाभाविक होना चाहिये और स्वाभाविक होता भी है। पर कुछ ऐसे भी लोग सम्भव हैं देश में हों शायद हैं जो आज सकटकाल तक की इस दृष्टि को 'रेजिमेन्टेशन' कहकर वयक्तिक स्वाधीनता की दुहाई देते हैं। पर मैं समझता हू, यह बाहर से 'रेजिमेन्टेशन' नहीं भीतर से साहित्यकार की उस रुचि का प्रमाण उपस्थित करता है जो सामाजिक प्रक्रिया से विरक्त है। जिसमें समाज के प्रति जितनी ही अनुरक्ति होगी, जितनी ही सामाजिक दुःख-सुख के प्रति उसकी एकरसता होगी, उतनी ही संकटों से उसकी रक्षा के लिए, उसके दुःख-सुख से गहरी सहानुभूति के कारण, उसमें प्रतिक्रिया भी प्रबल होगी। वयक्तिक सदर्भ में भी इसे यह समझकर स्वीकार करना चाहिये कि समाज की रक्षा ही व्यक्ति की रक्षा है, यह रक्षा दोनों के जीवन की है। यदि कोई साहित्यकार सोचे कि एक विशेष दिशा में उसके भावों का संक्रमण उससे भिन्न (राष्ट्रीय) बाह्य सत्ता के निर्देश से हो रहा है जैसा कि उसकी दृष्टि में होना नहीं चाहिये, तो उसका उत्तर मात्र यह है—चूंकि उसकी दृष्टि समाज के संकट को समझ उसकी रक्षा के अनुकूल उपक्रम नहीं करती निश्चय समाज के विनाश की सम्भावना, स्वयं उसके विनाश को भी सम्भव करती है, उन्हीं कारणों

से जो उसके नागरिक होने के नाते उसके दैहिक अस्तित्व को कायम रखने में सहायक होते हैं अब उसकी समाज के प्रति उदासीन दृष्टि के फलस्वरूप उस दिशा में साहित्य-निर्माण के लिए उसे प्रेरित कर रही है। यह निस्सन्देह सत्य है कि पर-प्रेरित और आत्म प्रेरित साहित्य में अन्तर होगा। पर क्या उस आत्मबोध का ही निर्माण साहित्यकार के मानस में नहीं किया जा सकता जिससे वह आत्म को परात्म से अभिन्न कर एकांगी हीनयान की प्रवृति छोड़ वह सर्वांगी-सर्वांगी महायान के प्रति प्रवृत्त हो ? व्यक्ति का संबंध वैयक्तिक हो सकता है, वह संबंध परस्पर रागद्वेष का जनक भी हो सकता है पर समाज के प्रति आचरण तो साहित्यकार का व्यक्तिव्यंजक न होकर यदि समाजव्यंजक हो तभी वह दोनों के लिए कल्याणकर हो सकता है—समाज के लिए भी समाज के अभिन्न व्यक्ति के लिए भी।

और जो आत्म प्रेरण की प्रतीक्षा में राष्ट्र और समाज के संकटकाल में भी चुप बैठा रहेगा वह निश्चय अपनी वैयक्तिक चेतना का—जिसे वह अज्ञान के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता मानता है—प्रसारक नहीं घातक होगा और केवल यह प्रकट करेगा कि उसके भीतर अपने से भिन्न और परे

ास चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में जो लिखा गया है—और
लखा काफी गया है जो इतना काफ़ी नहीं जितना चाहिए
ा—उसमें अनेक कृतियां नगण्य नहीं कहला सकतीं। वस्तुत
यदि संकट की भावना से प्रेरित साहित्यकार इस प्रकार का
साहित्य निर्मित नहीं कर पाता जिसे उच्चस्तरीय कहा जा
सके तो निश्चय आवश्यक परिमाण की सामाजिक निष्ठा,
एकाग्रता और एकानुभूति की स्वल्पता ही उसका कारण
होगी। साहित्यकार को राष्ट्रनिष्ठ, समाजनिष्ठ प्रवृत्ति से
अपने मानस को भरना होगा तभी राष्ट्र और समाज पर की
हुई चोट अथवा डाले हुए संकट को वह अपने ऊपर पड़ी चोट
या संकट समझेगा और तभी घनी अनुभूति और भाव स प्रेरित
हो वह अपनी नई समाजप्रवण आत्म रति में साहित्यिक
कालजयी कृतियों का—इस सीमित संदर्भ में भी—निर्माण
कर सकेगा।

फिर यदि सकट के सदर्भ में लिखा साहित्य कालजयी
नहीं भी बन पाया सकट में पड़े जीवन की रक्षा में अस्थायी
साधनों स भी सहायक हो सका, तो क्या यह स्थायी साहित्य
की उत्प्रेरक शान्ति की रक्षा नहीं हुई? और क्या यह प्रक्रिया
कुछ कम महत्त्व की होगी? राष्ट्र और समाज की रक्षा के
प्रति जो जागरूक होना है वह उस दिशा में उपक्रम करता है
जिसमें स्थायित्व के मूलाधार स्थित हैं और यदि अस्थायी
साहित्य द्वारा ही हम इस संकटकाल में सकट के प्रति अपनी
सारी शक्तियां साहित्य की पुकार द्वारा एकत्र एव संगठित कर
सकें तो क्या इतना ही पर्याप्त नहीं है? क्या इसके द्वारा,

अस्थायी साहित्य के द्वारा ही युद्ध को हटा शान्ति की स्थापना यदि हम कर सकें तो क्या हम उस परिस्थिति का निर्माण न कर सकेंगे जिसमें युद्ध तज दिया जाता है शान्ति की प्रतिष्ठा होती है स्वयं स्थायी साहित्य पलता है ?

और साहित्यकार का इस संकट का विरोध एकाकी नहीं सामुदायिक और उससे भी बढ़कर सामाजिक होगा। देश के विभिन्न साहित्य-वर्गों साहित्य-दृष्टियों, लेखक-संगठनों को एकत्र हो अथवा समानधर्मा होना होगा क्योंकि देश के इस समान संकट को सभी समान रूप से स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में कम से कम जब तक यह समान संकट बना है, इसकी अनिवार्य आवश्यकता है कि हम अपने स्थानीय विरोधों को दबा दें और एकमात्र इस संकट के विरुद्ध प्रतिक्रिया को समाज-प्रेरणा के रूप में जगा रखें। हमारे परस्पर के सैद्धान्तिक विरोध हमारी शक्ति को क्षीण करेंगे।

वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि न केवल इसी देश में बल्कि इससे भिन्न संसार के अन्य सारे देशों में भी हम अपनी आवाज उठाकर चीनी आक्रमण की अनैतिकता के प्रति साहित्यकारों का संगठन करें। उचित तो यह है कि भारतीय लेखक किसी केन्द्रीय स्थान में एकत्र होकर चीनी आक्रमण के प्रतिरोध में शान्तिप्रवण घोषणा करें और युद्धविरोधी यह घोषणा न केवल अफ्रीका और एशिया के साहित्यकारों के प्रति हो बल्कि संसार के प्रत्येक देश के लेखक-वर्ग के प्रति—स्वयं चीनी लेखकों के प्रति भी—और यह अपील अथवा घोषणा अन्तर्जातीय स्वरूप धारण करे। जिस प्रकार

राजनीतिक शिष्टमण्डलों द्वारा विदेशों में इस आक्रमण की अनैतिकता की घोषणा होनी आवश्यक है उसी प्रकार लेखकों से सम्बन्ध स्थापित कर शान्तिप्रिय देशों के ऊपर निरंकुश आक्रमण की निंदा होनी चाहिए। जब भारतीय लेखकों की आवाज पृथ्वी के सभी देशों में गूँजेगी तभी भारतीय लेखक-वर्ग की भाव चेतना की रक्षा होगी और शांति के विनाश की प्रक्रिया का प्रतिरोध होगा।

कश्मीर तथा पाकिस्तान

८ | कश्मीर के इतिहास पर एक नजर

कश्मीर की समस्या आज भारत और पाकिस्तान दोनों के सामने है। उसके पुराने और नये इतिहास पर एक नजर डाल लेना नामुनासिब न होगा। उसके प्राचीन इतिहास का पता कश्मीरी-पंडित कवि कल्हण की 'राजतरंगिणी' से चलता है। 'राजतरंगिणी' के उपसंहार के रूप में जोनराज ने 'द्वितीय राजतरंगिणी' लिखी। इन दोनों इतिहासों और समकालीन कुछ मुस्लिम 'तवारीख़ों' के आधार पर कश्मीर का प्राय: १३३९ ई० तक का इतिहास स्पष्ट प्रस्तुत किया जा सकता है। उस साल शाह मीर नाम के एक विजेता ने कश्मीर जीत शम्सुद्दीन नाम से उस देश पर अपनी हुकूमत शुरू की। तब कश्मीर छोटा था प्रायः सिन्ध और झेलम की उपरली घाटी तक ही सीमित। आज उसकी हदें पंजाब से पामीर और तिब्बत से चित्राल-यारकन्द तक फैली हैं।

वैसे तो कल्हण ने पुराणों आदि के आधार पर कश्मीर के इतिहास का ब्यौरा प्रागैतिहासिक काल से दिया है पर प्रमाणतः उसका सही इतिहास सातवीं-आठवीं सदी ईसवी से ही हमें उपलब्ध है। कश्मीर के ऐतिहासिक रंगमंच पर जिस

राजकुलों ने प्राचीन काल में अपना 'पाट' देखा है उनमें प्रधान 'कर्कोटक' 'उत्पल' और 'लोहर' रहे हैं। पर ऐतिहासिक रूप से भी केवल कर्कोटकों से ही उस सुन्दर भूखण्ड की कहानी नहीं शुरू होती। एक बार वह ख्यातनामा अशोक के अधिकार में भी रह चुका था। कहते हैं ईसा से पहले तीसरी सदी में अशोक ने उस सुन्दर प्रदेश को बौद्ध संघ को दान कर दिया था। श्रीनगर के निर्माण का श्रेय भी अशोक को ही दिया जाता है। अशोक के बाद जब उसका साम्राज्य उसके पुत्र पौत्रों में बंटा तो कश्मीर जलौक के हिस्से पड़ा। नहीं कहा जा सकता कि जलौक और उसके वारिसों के हाथ में कश्मीर कब तक रहा, पर कुछ अजब नहीं कि सिन्ध और पंजाब पर ग्रीकों का शासन दूसरी-पहली सदी ईसवी पूर्व में स्थापित हो जाने से कश्मीर भी बाख्त्री (बल्ख) के ग्रीक राजघराने के अधिकार में आ गया हो। फिर जब शकों-पह्लवों के हाथ से किदार कुषाणों ने शक्ति छीनी तो निस्सन्देह कश्मीर की घाटी कफस आदि के अधिकार में आई। कनिष्क ने तो श्रीनगर के पास ही बौद्धों की प्रसिद्ध चौथी 'संगीति' का अधिवेशन किया जिसकी अध्यक्षता सुपर्व ने की और जहाँ वसुमित्र अश्वघोष आदि ने अपने दार्शनिक प्रवचनों द्वारा बौद्ध-दर्शन का विस्तार किया। संभवतः उसी पहली सदी ईसवी के कुषाण-शासन से महायान का प्रवर्तक नागार्जुन भी सम्बन्धित था शायद चिकित्सा शास्त्र का महान पण्डित चरक भी। कश्मीर का राज कुषाणवंशीय हुविष्क ने भी कुछ काल भोगा। फिर एक पीढ़ी के लिए उस पर छठी सदी ईसवी में हूणों की भी सत्ता जमी

जब मध्यदेश से मार खाकर तोरमाण कश्मीर पहुँचा और वहाँ से उसने वहाँ की गद्दी हड़प ली। कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में उसकी अमानुषिकता का विशद वर्णन किया है। उसकी क्रूरता इतिहास प्रसिद्ध है। पर्वत की घाटियों से हाथियों को नीचे गिराकर उनके भयान्वित चिंघाडों से वह विशेष सुख पाता था। सातवीं सदी में कर्कोटक आये। इस प्रकार कश्मीर न केवल भारत का उन्नतांश बना रहा बल्कि पटना और पंजाब के दार्शनिक उसका ज्ञान-कलेवर सदा संवारते रहे।

उस सदी के शुरू में गोनन्दों से कश्मीर छीनकर दुर्लभवर्धन ने कर्कोटक वंश की नींव डाली। वह हर्षवर्धन का समकालीन था और उसने हर्ष को बुद्ध का दांत भेंट किया। उस काल कश्मीर के ही शासन में बेताल हजारा, पुंछ और राजौरी भी थे। उस राजकुल का सबसे महान राजा ललितादित्य मुक्तापीड (ई० ७२४–६० ई०) था। वह राजा दुर्लभक का तनय बेटा था और शक्ति से राजदण्ड उसने स्वायत्त किया था। कश्मीर के विजयी राजाओं में उसका-सा विजेता दूसरा न हुआ। वह कन्नौज के यशोवर्मन् और प्रसिद्ध संस्कृत कवि-नाटककार भवभूति का समकालीन था। तब तक कश्मीर अधिकतर चीन के ही अधिकार में रहा था। मुक्तापीड ने कश्मीर को चीनी हयकर्षों से मुक्त कर उसके कुछ इलाके भोट (तिब्बत का एक भाग) आदि भी ले लिये। उसने तुखारिस्तान दरदिस्तान और पंजाब के भाग भी जीते थे, फिर पहाड़ ही पहाड़ होता वह गौड़ में उतर गया था जिस पर कुछ काल के लिए उसका कब्जा हो गया। ७३३ ई० में

राजकुलों ने प्राचीन काल में अपना 'पाट' खेला है उनमें प्रधान 'कर्कोटक' 'उत्पल' और 'लोहर' रहे हैं। पर ऐतिहासिक क्रम से भी केवल कर्कोटकों से ही उस सुन्दर भूखण्ड की कहानी नहीं शुरू होती। एक बार वह ख्यातनामा अशोक के अधिकार में भी रह चुका था। कहते हैं ईसा से पहले तीसरी सदी में अशोक ने उस सुन्दर प्रदेश को बौद्ध संघ को दान कर दिया था। श्रीनगर के निर्माण का श्रेय भी अशोक को ही दिया जाता है। अशोक के बाद जब उसका साम्राज्य उसके पुत्र पौत्रों में बटा तो कश्मीर जलौक के हिस्से पड़ा। नहीं कहा जा सकता कि जलौक और उसके वारिसों के हाथ में कश्मीर कब तक रहा, पर कुछ अजब नहीं कि सिन्ध और पंजाब पर ग्रीकों का शासन दूसरी-पहली सदी ईसवी पूर्व में स्थापित हो जाने से कश्मीर भी बाख्त्री (बल्ख) के ग्रीक राजभरात के अधिकार में आ गया हो। फिर जब शकों-पह्लवों के हाथ से किदार कुषाणों ने शक्ति छीनी तो निस्सन्देह कश्मीर की घाटी कफस आदि के अधिकार में आई। कनिष्क ने तो श्रीनगर के पास ही बौद्धों की प्रसिद्ध चौथी संगीति' का अधिवेशन किया जिसकी अध्यक्षता सुपर्व ने की और वहां वसुमित्र अश्वघोष आदि ने अपने दार्शनिक प्रवचनों द्वारा बौद्ध-दर्शन का विस्तार किया। सम्भवत उसी पहली सदी ईसवी के कुषाण-शासन से महायान का प्रवर्तक नागार्जुन भी सम्बन्धित था शायद चिकित्सा शास्त्र का महान पण्डित चरक भी। कश्मीर का राज कुषाणवंशीय हुविष्क ने भी कुछ काल भोगा। फिर एक पीढ़ी के लिए उस पर छठी सदी ईसवी में हूणों की भी सत्ता जमी

जब मध्यदेश से मार खाकर तोरमाण कश्मीर पहुंचा और धोखे से उसने वहां की गद्दी हड़प ली। कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में उसकी अमानुषिकता का विशद वर्णन किया है। उसकी क्रूरता इतिहास प्रसिद्ध है। पर्वत की चोटियों से हाथियों को नीचे गिराकर उनके भयान्वित चिंघाड़ों से वह विशेष सुख पाता था। सातवीं सदी में कर्कोटक आये। इस प्रकार कश्मीर न केवल भारत का उन्नतशीर्ष बना रहा बल्कि पटना और पंजाब के दार्शनिक उसका ज्ञान-कलेवर सदा सवारते रहे।

उस सदी के शुरू में गोनर्दों से कश्मीर छीनकर दुर्लभवर्धन ने कर्कोटक वंश की नींव डाली। वह हर्षवर्धन का समकालीन था और उसने हर्ष को बुद्ध का दांत भेंट किया। उस काल कश्मीर के ही शासन में कैतास, हजारा, पुंछ और राजौरी भी थे। उस राजकुल का सबसे महान राजा ललितादित्य मुक्तापीड (सं० ७२४–६० ई०) था। वह राजा दुर्लभक का तीसरा बेटा था और शक्ति से राजदण्ड उसने स्वायत्त किया था। कश्मीर के विजयी राजाओं में उसका-सा विजेता दूसरा न हुआ। वह कन्नौज के यशोवर्मन् और प्रसिद्ध संस्कृत कवि-नाट्यकार भवभूति का समकालीन था। तब तक कश्मीर अधिकतर चीन के ही अधिकार में रहा था। मुक्तापीड ने कश्मीर को चीनी हथकंडों से मुक्त कर, उसके कुछ इलाके भोट (तिब्बत का एक भाग) आदि भी ले लिये। उसने तुखारिस्तान दरदिस्तान और पंजाब के भाग भी जीते थे फिर पहाड़ ही पहाड़ होता वह गौड़ में उतर गया था जिस पर कुछ काल के लिए उसका कब्जा हो गया। ७३३ ई० में

यह कन्नौज पर चढ़ दौड़ा और यशोवमन को हराकर उसने वहां अपने नाम के सिक्के चलाये। वह निर्माता भी बड़ा था और उसके अनेक मन्दिरों में सूर्य के प्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर के खंडहर आज भी खड़े हैं।

जयापीड़ विनयादित्य मुक्तापीड़ का पोता, कर्कोटक राजकुल का दूसरा प्रसिद्ध सम्राट था। उसने कन्नौज, नेपाल और गौड़ पर फिर अधिकार कर अपने दादा की नीति दुहराई। उसके शासन और जुल्म से प्रजा तबाह हो गई। ८१० ई० में उसके मरने पर प्रजा को नजात मिली।

उसके बाद के कर्कोटक राजा कमजोर हुए जो तलवार मजबूती से न पकड़ सके और अभी सदी के बीच उत्पलों ने उनसे कश्मीर का राज छीन लिया। 'कुट्टनीमतम्' के रचयिता दामोदरगुप्त और प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री उद्भट और भामह जयापीड़ की सरक्षा में ही रहे थे।

उत्पलों में पहला अवन्तिवर्मन हुआ जो ८५५ ई० में गद्दी पर बैठा। प्रजा कर्कोटकों और सामन्ती डाकुओं से बेहाल हो रही थी। चारों ओर अराजकता फैली हुई थी। खेती बर बाद हो रही थी मन्दिरों पर डाके पड़ रहे थे। उसने डामरों की शक्ति तोड़ दी। डामर देहाती सामन्त थे जिन्होंने भयानक लूट-मार देश में मचा रखी थी। श्रीन्तपुर उसी अवन्तिवर्मन ने बसाया था। 'ध्वन्यालोक' का प्रतिभाशाली रचयिता आनन्द वर्धन उसी की सभा का पण्डित था। जिसे भारत ने अपना मूर्धन्य रसपण्डित माना। उसका मन्त्री सुय्य अपने सार्वजनिक कामों से इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। उसने झेलम की धारा

बदल दी और उससे अनेक नहरें निकालकर उसकी तलेटी से निकले खेतों को सींचा। आज महगी की चोट खाये हमें पढ़कर कुछ कम सन्तोष नहीं होता कि किस प्रकार सुय्य के प्रयत्न से कभी २०० दीनारों का एक खरी मिलने वाला चावल केवल ३६ दीनारों में मिलने लगा था। उसका नाम आज भी सोपुर कस्बे के नाम में सुरक्षित है।

८८३ ई० में अवन्तिवमन के मरने पर कश्मीर में भयकर गृह-युद्ध छिड़ गया। भाई-भाई के खून का प्यासा हो गया। अन्त में उसका पुत्र शकरवमन गद्दी पर बैठा। उसने दूर-दूर तक धावे किये, झेलम और चिनाब के बहाव से गुजरात तक, प्रतीहारों के राज से कांगड़ा तक। पर युद्धों ने उसकी अर्थनीति चौपट कर दी कोष खाली हो गया। तब उसने मन्दिरों और प्रजा को लूटना शुरू किया। ९०२ ई० में हजारा के धावे से लौटता वह राह में मरा। फिर उसका बेटा गोपालवमन गद्दी पर बैठा। उसी के शासन काल में उसके मंत्री प्रभाकरदेव ने काबुल के साहिय राजा सामन्तदेव को परास्त कर उसकी साहिय गद्दी पर तोरमाणकमलुक को बिठाया। गोपालवमन दो साल बाद ही मर गया और तब से ९३९ तक निरन्तर अराजकता देश में फैली रही।

इस बार अकाल में सेना के दो दल 'तन्त्रिन्' और 'एकांग' थे, जिनके अत्याचारों से प्रजा त्राहि त्राहि करने लगी। तभी ९१७–१८ में कश्मीर में बालक राजा पार्थ के समय इतिहास प्रसिद्ध अकाल पड़ा। पर राजदरबार उससे विमुख था। प्रजा अन्न के अभाव में तड़प-तड़प, मर रही थी, पर राजकुल मन्त्री

और तस्मिन् कल्हण के शब्दों में "संचित चावल की राशियों को मनमाने दामों बेच-बेच अनन्त धन इकट्ठा कर रहे थे।" पार्थ का बेटा उन्मत्तावन्ती केवल दो साल के लिए गद्दी पर बैठा पर उन दो सालों में उसने कश्मीरियों को नरक की याद दिला दी। नाम के ही अनुसार उसके गुण भी थे। उसने जयेन्द्रविहार में प्रव्रजित पिता की हत्या कर दी भाइयों को निराहार रखकर मार डाला। उसके बाद कुछ महीनों में शासन उसके कुल से छिन गया।

९३९ ई० ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन के मंत्री प्रभाकरदेव के पुत्र यशस्कर को राजा चुना। उसके शासन में शान्ति लौटी। उसके पुत्र संग्राम को मारकर मंत्री पर्वगुप्त ने गद्दी हड़प ली और एक नये कुल की नींव डाली। इस कुल की सबसे प्रसिद्ध और संसार के इतिहास में अपना स्थान रखने वाली रानी दिद्दा हुई। वह काबुल के शीमशाही की नातिन और पुंछ के लोहर सामन्त सिंहराज की पुत्री थी। उसने आधी सदी तक (९५० १००३ ई०) बड़ी प्रवीणता से राज किया पहले राजा क्षेमगुप्त की रानी के रूप में फिर अपने पुत्रों के अभिभावक के रूप में, अन्त में स्वयं गद्दी पर बैठकर। लड़ाई में वह मिस्र की उस प्रसिद्ध मामलुक मलका शुजरुद्दुर की तरह सेना का नेतृत्व करती थी जिसने क्रूसेडरों के नेता इंग्लैंड के राजा 'सिंह हृदय' रिचर्ड को बन्दी कर लिया था। परन्तु शासन में वह उससे कहीं दक्ष थी। डामरों और ब्राह्मणों की दुश्मनी के बावजूद उसने कश्मीर की राजनीति में अपना सिक्का चलाया। तुंग नामक खस की वह प्रेयसी थी। वही तुंग कुछ काल बाद

तक कश्मीर की राजनीति पर छाया रहा और महमूद गजनवी के विरुद्ध रण में मो गया। विद्दा ने मरते-मरते कश्मीर की गद्दी अपने पिता के लोहर कुल को सौंप दी। अपने भतीजे संग्रामराज को गद्दी पर बिठा उसने कश्मीर में लोहर राजवंश की नींव डाली।

लोहरों के आरम्भ-काल में तो तुंग ही सर्वेसर्वा था। १०१४ ई० में जब त्रिलोचनपाल शाहिय ने महमूद गजनवी से लड़ने के लिए हिन्दू राजाओं को आमंत्रित किया तब कश्मीर की ओर से तुंग भी लड़ने गया। महमूद ने सात वर्ष बाद कश्मीर जीतने की भी कोशिश की, पर लोहकोट का घेरा डालकर भी उसे न जीत सकने से निराश होकर वह पंजाब लौट गया। कश्मीर उस तबाही से तो बच गया, पर घर की तबाही उसे ले डूबी। डामरों के अत्याचार से प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी। खून-खच्चर आये दिन का राज हो गया। कामुकता, षड्यन्त्र, हत्या महलों का शृंगार बनी। १०८६ ई० में हर्ष नाम का होनहार राजा गद्दी पर बैठा। कला दया बदलगी पर वह भी अत्यन्त क्रूर और कामी निकला। सेना में उसने तुरुष्क जनरल नियुक्त किये और मन्दिरों को अपवित्र करने और उन्हें तथा प्रजा को लूटने की अद्भुत योजनाएं बनाईं। फिर देश डामरों की लूटमार का शिकार हो गया। और अन्त में १३३६ ई० में शाह मीर ने 'श्री सम्स दीन' (शम्सुद्दीन) नाम से कश्मीर पर मुस्लिम शासन स्थापित किया। राजभाषा फिर भी कश्मीर की ब्राह्मणों के प्रभुत्व के साथ, संस्कृत ही बनी रही। हिन्दू शासन के साथ कश्मीर के इतिहास का पूर्वार्द्ध

और उन्हीं के कल्हण के शब्दों में, 'संचित भावना की राशियों को मनमाने दामों बेच-बेच अनन्त धन इकट्ठा कर रहे थे।" पार्थ का बेटा उन्मत्तावन्ती केवल दो साल के लिए गद्दी पर बैठा पर उन दो सालों में उसने कश्मीरियों को नरक की याद दिला दी। नाम के ही अनुसार उसके गुण भी थे। उसने जयेन्द्रविहार में प्रव्रजित पिता की हत्या कर दी, भाइयों को निराहार रखकर मार डाला। उसके बाद कुछ महीनों में शासन उसके कुल से छिन गया।

९३९ ई० ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन के मंत्री प्रभाकरदेव के पुत्र यशस्कर को राजा चुना। उसके शासन में शान्ति लौटी। उसके पुत्र संग्राम को मारकर मंत्री पर्वगुप्त ने गद्दी हड़प ली और एक नये कुल की नींव डाली। इस कुल की सबसे प्रसिद्ध और संसार के इतिहास में अपना स्थान रखने वाली रानी दिद्दा हुई। वह काबुल के भीमशाही की नातिन और पुंछ के लोहर सामन्त सिंहराज की पुत्री थी। उसने आधी सदी तक (९५०-१००३ ई०) बड़ी प्रवीणता से राज किया पहले राजा क्षेमगुप्त की रानी के रूप में फिर अपने पुत्रों के अभिभावक के रूप में अन्त में स्वयं गद्दी पर बैठकर। लड़ाई में वह मिस्र की उस प्रसिद्ध मामलूक मलका शुजुरुद्दर की तरह सेना का नेतृत्व करती थी जिसने क्रूसेडों के नेता इंग्लैंड के राजा 'सिंह हृदय' रिचर्ड को बन्दी कर लिया था। परन्तु शासन में वह उससे कहीं दक्ष थी। डामरों और ब्राह्मणों की दुश्मनी के बावजूद उसने कश्मीर की राजनीति में अपना सिक्का चलाया। तुंग नामक खस की वह प्रेयसी थी। वही तुंग कुछ काल बाद

तक कश्मीर की राजनीति पर छाया रहा और महमूद गज़नवी के विरुद्ध रण में भी गया। दिद्दा ने मरते-मरते कश्मीर की गद्दी अपने पिता के लोहर कुल को सौंप दी। अपने भतीजे संग्रामराज को गद्दी पर बिठा उसने कश्मीर में लोहर राजवंश की नींव डाली।

लोहरों के आरम्भ-काल में तो तुग ही सर्वेसर्वा था। १०१४ ई० में जब त्रिलोचनपाल साहिय ने महमूद गज़नवी से लड़ने के लिए हिन्दू राजाओं का आमंत्रित किया तब कश्मीर की ओर से तुग भी लड़ने गया। महमूद ने सात वर्ष बाद कश्मीर जीतने की भी कोशिश की, पर लोहकोट का घेरा डालकर भी उसे न जीत सकने से निराश होकर वह पजाब लौट गया। कश्मीर उस तबाही से तो बच गया, पर घर की तबाही उसे ले डूबी। डामरों के अत्याचार से प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी। खून-खच्चर आये दिन का राज हो गया। कामुकता, षडयन्त्र, हत्या महलों का शृंगार बनी। १०८९ ई० में हर्ष नाम का होनहार राजा गद्दी पर बठा। लगा दशा बदलेगी, पर वह भी अत्यन्त क्रूर और कामी निकला। सेना में उसने तुर्क जनरल नियुक्त किये और मन्दिरों को अपवित्र करने और उन्हें तथा प्रजा का लूटने की अद्भुत योजनाएं बनाई। फिर देश डामरों की लूटमार का शिकार हो गया। और अन्त में १३३९ ई० में शाह मीर ने 'श्री सम्स दीन' (शम्सुद्दीन) नाम से कश्मीर पर मुस्लिम शासन स्थापित किया। राजभाषा फिर भी कश्मीर की ब्राह्मणों के प्रभुत्व के साथ, संस्कृत ही बनी रही। हिन्दू शासन के साथ कश्मीर के इतिहास का पूर्वार्द्ध

समाप्त होता है।

गुरु के मुस्लिम राजाओं ने काश्मीर के शासन में गज़ब की सहिष्णुता का परिचय दिया। प्राय वैसा ही जैसा ६०० बर्ष पहले सिन्ध में अरबों ने दिया था। उन्होंने कश्मीर की समूची संस्कृति अछूती रखी, बल्कि स्वय वे उस संस्कृति के अगुआ बने। संस्कृत को उन्होंने अपनी राजभाषा बनाया। उसी में सिक्कों पर लेख लिखवाए, उसी में अपनी प्रशस्तियां लिखवाईं। ब्राह्मण न केवल वहां लगान का वसूली के लिए नियुक्त थे बरन् सारा शासन ही उन्हीं के सहकार से चलता था। वही मंत्री थे, वही शासक। बहुत काल पीछे तक उनका यह दबदबा कश्मीर में बना रहा। जैनुल आबीदीन का प्रजा-वत्सल शासन आज भी कश्मीरियों को रामराज्य की तरह याद है।

कश्मार की ऊंचाइयों से उतरकर ब्रिटिश भारत या रजवाड़ों में अपना भाग्य परखने की कश्मीरी प्रवृत्ति केवल आज या हाल की ही नहीं पुरानी भी है। प्रसिद्ध कवि कालिदास क्षमेन्द्र आदि ने तो गंगा-गोदावरी की घाटियों में ही रहकर नाम कमाया, यद्यपि स्वय काश्मीर से भारती मुखरित करनेवाले साहित्यिकों की कमी न थी। रस और अलंकार के क्षेत्र में जितना साहित्य कश्मीर ने प्रस्तुत किया भारत के किसी अन्य प्रांत ने नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी धीरे-धीरे कश्मीर का नाम लिया जाने लगा। चीन ईरान काबुल आदि की प्रसरनीति का केन्द्र तो वह अनेक बार रहा ही था अन्य मुल्कों की राजनीति सवारने में भी उसके लाड़लों ने कुछ कम प्रयत्न न किये। यहां

उदाहरण के लिए केवल एक तिलक की ओर संकेत कर देना काफी होगा। अभी रानी दिद्दा को मरे कुछ ही दिन हुए थे, उसका प्रेमी तुंग अभी जिन्दा ही था कि नाई का आकर्षक बेटा तिलक कश्मीर से गजनी जा पहुंचा। वह शायद राजा भोज और दिद्दा दोनों का ही कनिष्ट समकालीन था और दोनों की सेनाओं को समवत उसने त्रिलोचनपाल के झंडे के नीचे लड़ते देखा था। उसने गजनी के दरबार को अक्ल और हुनर से जीतना चाहा जीता। मुसलमान समकालीन इतिहासकारों ने उसकी बेइन्तहा तारीफ़ लिखी है। वे लिखते हैं कि तिलक असाधारण वाचाल असामान्य मुलक्कड़—हिन्दी और फ़ारसी दोनों का—था। उसने कूटनीति और धोखाधड़ी कश्मीर के अनुपम कूटनीतिज्ञों से सीखी थी। वह जादूगर भी था, मोहन वशीकरण जाननेवाला भी क्योंकि सब उसके जादू के मारे थे, जो उससे मिलता उसी का होकर रहता। कब और कैसे वह गजनी पहुंचा यह कोई नहीं जानता पर यकायक उसका नाम मशहूर हुआ। स्वयं महमूद उसका कायल हो गया और उसके प्रधान मंत्री ख्वाजा अब्दुर्रज्जाक ने उसे अपना सलाहकार दुभाषिया और गुप्त भेदों का सेक्रेटरी नियुक्त कर लिया। महमूद के बेटे खूंखार मसूद पर तो वह इस क़दर हावी हुआ जो कल्पनातीत है। उसने उसे अपनी हिन्दुस्तानी फ़ौजों का जनरल बना दिया उसे छत्र और शाही शामियाने का हकदार बनाया। तिलक के फ़ौजी झंडों में भी सोने के पंख लगने लग, उसके दरवाजे पर भी नौबत बजने लगी। एक काम उसने गजब का किया। नियाल्तिगिन कश्मीर का हाकिम था। वह बागी हो

गया। उसने मना करने पर भी, बनारस पर हमला किया था। पूरब में कोई मुसलमान विजेता अब तक इतना दूर नहीं आ सका था स्वयं महमूद तक नहीं। महमूद ने नियाल्तिगिन को पकड़ने के लिए सेना पर सेना भजी पर उसे मार खाकर लौटना पड़ा। किसी जनरल की उधर जाने की हिम्मत जब न हुई तब तिलक ने उसे सर करने का बीड़ा उठाया। सेना लिये वह लाहौर पहुंचा और बागी फ़ौजों के पैर उखड़ गए। नियाल्तिगिन भागा। पर तिलक को तो उसका सिर चाहिए था महज हार से क्या बनता? तिलक लड़ाई केवल तलवार की नहीं लड़ता था उसका इष्ट दाव-पेंच में था। उसने जाटों को साधा और एक लाख चांदी के सिक्कों के बदले नियाल्तिगिन का सिर उसके खेमें में आ पहुंचा जिसे तीसरे ही दिन तिलक ने महमूद के दस्तरखान पर ला रखा।

गुलाम आए और तुर्क खिलजी और तुगलक सैयद और लोधी पर सिवा जब-तब उधर लूट कर लेने के कोई कश्मीर को पूरे तौर पर शासन में मिला न सका। सूरों ने शायद कुछ प्रयत्न किये पर उसकी सही जीत का सेहरा १५८७ ई० में अकबर के ही सिर बंधना था। मुगलों ने बार बार अपने पुरखों की जमीन फ़रग़ाना और वहाँ की घाटी पर कब्जा करना चाहा था, बार-बार उन्हें मुंह की खानी पड़ी थी, पर कश्मीर की खुशनुमा घाटी जो उनको पल्लुए में मिली उसमें उनकी हार जीत में बदल गयी। क्या प्राकृतिक खूबसूरती क्या केसर जाफ़रान की खेती, दोनों रूप में। अकबर से कहीं बढ़कर उसका मोह जहांगीर और नूरजहां को था। शालीमार

बाग की हरियाली में बाबर की आत्मा जैसे मंदिर जहांगीर की काया में उतर आती और वह सल्तनत की परेशानियां भूल जाता। यहीं नूरजहां ने गुलाब का इत्र निकाला। यहीं दोनों प्रेमी हर साल गर्मी के महीने बिताने लगे। शाहजहां स्वयं कश्मीर का दीवाना था। हर साल वह भी कश्मीर आता। यह घाटी औरंगजेब की हुकूमत तक बराबर मुगलों के शासन में बनी रही—तब तक जब तक दिल्ली की सल्तनत टूक-टूक न हो गई।

कालान्तर में कश्मीर में खालसा सरकार की भी हुकूमत कायम हुई। केवल कुछ साल। धीरे-धीरे सारा भारत अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में फिर पार्लमेंट के अधिकार में। एक दिन जब महाराजा रणजीतसिंह के उत्तराधिकारियों के हाथ से कोहनूर के साथ-साथ सतलज के पूर्ववर्ती प्रान्त निकल गए, अंग्रेजों की नजर तब कश्मीर पर पड़ी। रणजीतसिंह के बाद ही पंजाब डूबा और साथ ही कराकोरम की चोटियां भी इंगलिश चैनल में उतराने लगीं। डोगरों ने तब कश्मीर खरीद लिया और यह सुनहुमा घाटी फिर हिन्दू हुकूमत में आई जिसकी जनता अत्यन्त बहुमत से तलवार के जोर से बनी मुसलमान थी।

उसके बाद या पहले का इतिहास वस्तुतः इतिहास का नहीं 'तारीख-नवीसी' का अध्याय है। जब कश्मीर हुए चकों और डामरों का न था पर सुन-सुक्कर के प्रभाव में भी हुआ और स्वच्छाचारिता का जो व्यापार गए कश्मीर में हुआ वह स्वयं कुछ कम न था। डोगरे राजाओं ने विदेशों में

पानी की तरह देश पर रुपया बहाने में किसी रजवाड़े को पीछे न रहने दिया। प्रजा भूखी-नंगी सभी रही देश का रुपया बाहर के सरायों बाजारों में बरसता रहा।

यह सम्भव न था कि यह स्थिति बराबर चलती रहती। भारत ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में आजादी का झण्डा उठाया। उस आजादी की मांग की लहर ब्रिटिश भारत के बाहर रियासतों में बह चली। कश्मीर भी मैदान में उतरा। वहां भी कुर्बानियां होने लगीं लोग जान पर खेलने लगे। पहले रियासत कांग्रेस ने ही मुस्लिम की ही भांति आजादी के नारे बुलन्द किये फिर उसके सारे राष्ट्रीय काम राष्ट्रीय कान्फ्रेंस ने अपने हाथ में ले लिए।

सन् ४७ में देश आजाद हुआ। देश का बटवारा हो गया। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों में इन्सान का खून इन्सान ने बहाया। लोग बरबाद हो गए उनके घर उजड़ गए। दुनिया के इतिहास ने आदमी की इतनी बड़ी बरबादी का उदाहरण नहीं देखा था। उसी बीच कश्मीर पर हमला हुआ। हमला पाकिस्तानी मदद से कबीलाई पठानों ने 'आजाद कश्मीर' के नाम पर किया जिससे कश्मीर पाकिस्तान में शामिल हो जाए। पर कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल होना गवारा न था। उसका हित भारत के साथ था। उसने भारत का दामन पकड़ा। राष्ट्र[illegible]स और कश्मीर[illegible] [illegible]न हिन्दु-

करना, अपना अंग हो जाने के कारण अब लाज़मी था। भारतीय सेनाएं कश्मीर की ऊंचाइयों पर चढ़ गईं। पाकिस्तान ज़ाहिरा इन्कार करता भी मोर्चे पर लड़ता रहा। पठान उत्तर-पश्चिम के कश्मीरी गांवों को पाकिस्तानी सेना की सहायता से लूटते-जलाते रहे। लोगों का कत्ल करते रहे, औरतों की अस्मत लूटते रहे। और उधर की सारी जनता मुसलमान थी। पर उस मोर्चे पर कश्मीर को उस लड़ाई में सभी एक-राय थे—कश्मीरी जनता और सरकार भारतीय जनता और सरकार कांग्रेसी, हिन्दूसभाई कम्युनिस्ट समाजवादी सभी। पाकिस्तान वह लड़ाई हारकर झुंझला उठा। उसे अपना हमला स्वीकार कर झूठ निगल जाना पड़ा। लड़ाई रुक गई। भारत ने मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामने रख दिया था सो वहां से 'सरहद' की समाप्ति के लिए एक जत्था जा पहुंचा निमित्त जिसका अध्यक्ष था। बात वहीं की वहीं रह गई। कोई हल न हुआ। कश्मीर में संविधान-समिति बनी और उसी के लिए संविधान द्वारा तब तक वहां शासन होता रहा जब तक कश्मीरी जनता ने अपने चुनाव द्वारा भारत का अंग राज्य स्वीकार न कर लिया। उसकी सुरक्षा की जिम्मेदार भारत की सरकार है, भीतरी हुकूमत की खुद कश्मीरी सरकार अन्य भारतीय राज्यों की ही तरह।

पाकिस्तान ने इस बीच कुछ पैंतरेबाज़ी शुरू की, उसके अखबारों ने 'जिहाद' का हल्ला बोला। हिन्दुस्तान चुपचाप उसे सुनता रहा। कश्मीर के मसले को इधर शेख अब्दुल्ला की नक्सताओं और कुछ स्थानीय तथा भारतीय दलों की

गुटबंदी ने और उलझा दिया। जनसंघ आदि ने सत्याग्रह शुरू किया। कश्मीर में सत्याग्रहियों के जत्थे जाने और जेल में ठूसे जाने लगे। तभी श्यामाप्रसाद मुकर्जी कश्मीर सरकार के हुक्म की उपेक्षा कर कश्मीर पहुंचे और पकड़ लिये गए। जेल में ही उनकी मृत्यु हुई।

इसी बीच कश्मीर राजनीति में एक नई गतिविधि का भंडाफोड़ हुआ। शेख अब्दुल्ला स्वतन्त्र कश्मीर का स्वप्न देखने लगे थे और भारत व नेहरू और कश्मीर सबके खिलाफ़ बेवफ़ाई पर आमादा हो गए थे। पता लगते ही सदरे रियासत श्री करणसिंह ने मन्त्रिमण्डल बर्खास्त कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अपने मंत्रिमण्डल में अल्पमत होते भी शेख साहब जो स्वेच्छाचारिता करते रहे थे उसका राज अब खुला। बख्शी गुलाम मुहम्मद ने सदरे रियासत के निमन्त्रण पर अपना मन्त्रिमण्डल बनाया और राष्ट्रीय कान्फ्रेंस और संविधान समिति ने एकमत होकर उन्हें स्वीकार किया। सदा की ही भांति आज भी कश्मीर और भारत एक हैं।

६ | भारत की अमरावती कश्मीर

ध्रुव से ध्रुव तक की पृथ्वी के प्रसार में प्रकृति ने जहाँ-जहाँ अपने विशेष आवास के लिए सौन्दर्यस्थल बनाए हैं। कश्मीर उसके उसी आवास का अभिराम क्रीड़ास्थल है। पीर पंजाल और कराकोरम से घिरी सिन्ध झेलम और चिनाब की धाराओं से सिंचित कश्मीर की घाटी भारत की अमरावती है, उसके देवताओं का विश्रामागार उसके कवियों का उद्गम जिसके कुसुमनिचय का केसर के वमन का भौगोलिक सुषमा का बखान करते वे कभी थके नहीं। बरनियर और फॉस्टर और विग्ने, स्टाइन और ग्रियर्सन, यानेंट और टेम्पुल की वह स्तुत्य भूमि अपनी सुषमा की सम्पदा में कितनी कमनीय है यह कहना न होगा। साहित्यकार और भावातुर यात्री सदियों से रीझ-रीझ उसके लालारुखी बाँकपन पर न्योछावर होते रहे हैं।

क्या है यह देश ? पीर पंजाल की किसी ऊँचाई से नीचे नजर डालिए, लालेजारी और मन्द महिप की वह घाटी हजारों फुट नीचे से सहसा उठकर आँखों में समा जायेगी। उधर वे पीर पंजाल की चोटियाँ हैं, कोन्सर नाग, भातकोटि और रोमेध थोंग जिसे आर्थर नीव ने अपने आरोहण का सफल

जल्दबाजी में और उलझा दिया। जनसंघ आदि ने सत्याग्रह शुरू किया कश्मीर में सत्याग्रहियों के जत्थे जाने और जेल में ठूंसे जाने लगे। तभी श्यामाप्रसाद मुखर्जी कश्मीर सरकार के हुक्म की उपेक्षा कर कश्मीर पहुंचे और पकड़ लिये गए। जेल में ही उनकी मृत्यु हुई।

इसी बीच कश्मीर राजनीति में एक नई गतिविधि का भण्डाफोड़ हुआ। शेख अब्दुल्ला स्वतन्त्र कश्मीर का स्वप्न देखने लगे थे और भारत व नेहरू और कश्मीर सबके खिलाफ़ बेवफ़ाई पर आमादा हो गए थे। पता लगते ही सदरे रियासत श्री करणसिंह ने मन्त्रिमण्डल बर्खास्त कर, उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अपने मंत्रिमण्डल में अल्पमत होते भी शेख साहब जो स्वेच्छा चारिता करते रहे थे उसका राज अब खुला। बख्शी गुलाम मुहम्मद ने सदरे रियासत के निमन्त्रण पर अपना मंत्रि मण्डल बनाया और राष्टीय कांग्रेस और सविधान समिति ने एकमत होकर उन्हें स्वीकार किया। सदा की ही भांति आज भी कश्मीर और भारत एक हैं।

६ | भारत की अमरावती कश्मीर

ध्रुव से ध्रुव तक की पृथ्वी के प्रसार में प्रकृति ने जहाँ-जहाँ अपने विशेष आवास के लिए सौन्दर्यस्थल बनाए हैं। कश्मीर उसके उसी आवास का अभिराम क्रीडास्थल है। पीर पंजाल और कराकोरम से घिरी सिन्ध झेलम और चिनाब की धाराओं से सिंचित कश्मीर की घाटी भारत की अमरावती है उसके देवताओं का विश्रामागार, उसके कवियों का उद्गम, जिसके कुसुमनिचय का केसर के वसन का, मौसमिक सुषमा का बखान करते वे कभी थके नहीं। बरनियें और देवीदेरी फोस्टर और विन्ये स्टाइन और प्रिंसप, वारेंट और टेम्पुल की वह स्तुत्य भूमि अपनी सुषमा की सम्पदा में कितनी कमनीय है यह कहना न होगा। साहित्यकार और भावातुर यात्री सदियों से रीझ-रीझ उसके लालारुखी बाँकपन पर न्योछावर होते रहे हैं।

कैसा है यह देश? पीर पंजाल की किसी ऊँचाई से नीचे नजर डालिए, लालदत्तरी और नन्द ऋषि की वह घाटी हजारों फुट नीचे से सहसा उठकर आँखों में समा जायेगी। उधर ये पीर पंजाल की चोटियाँ हैं, कान्सर नाग भाताकोटि और रोमेश थोंग जिसे आर्थर नीव ने अपने आरोहण का सफल

मक्य बना सनसेट पीक' नाम दिया,—अस्ताचल की चोटी। सही उदयाचल से उठकर बालारुण जब आकाश की मूर्धा पर मध्याह्न में प्रखर मरीचिमाली बन त्रिविक्रम के एश्वर्य से गगन लाँघ अस्ताचल की ओट होता है तब थोंग पर्वत की चोटी पर सोना बरस पड़ता है और तब अन्धकार का प्रबल प्रहरी अपने विश्राम की ओर जाते हुए भी प्रकाश के कोटि कोटि तीर तिमिर पर छोड़ चलता है।

उधर उत्तर पजाल पर्वतमाला का वह तोसा मदान आँखों को बरबस खींच लेता है। मैदान घास से ढका, जिसके विस्तार पर गडरिये अपने ढोर लिये बिखरा करते हैं। पर मैदान से आप यह न समझें कि वह कश्मीर की घाटी का फैलाव है। ना उसकी ऊँचाई चौदह हजार फुट से कम नहीं जो सर्दियों में बर्फ की परतों से ढक जाया करती है और जिसके निकटवर्ती देवदार के वृक्षों की डालियों से स्फटिक की सुइयों की खम्भ की बफ लटक जाती है, जब उनसे टपकती पानी की बूँदें घनी ठीस और पाला की मारी गिरते-गिरते सहसा जम जाती हैं।

उत्तर-पश्चिम उत्तर से भी अधिक पश्चिम वह काजी नाग की शृंखला है माटखोरों की निवास भूमि बारह हजार फुट से भी अधिक ऊँची, अपना हिमधवल मस्तक उठाये जिसकी ढलान देवदारुओं के वनों से ढकी है। और वह नंगा पर्वत है, २६ हजार फुट से कहीं अधिक ऊँचा घाटी की इस दिशा का अदम्य प्रहरी।

उधर दूर कराकोरम की गगनचुम्बी पर्वत माला है,

मुस्ताग, जिसकी अनेक चोटियाँ २५ हजार फुट से भी ऊपर उठ जाती हैं। उसी शृंखला में जगतविख्यात वह हिमशिखर है, हिमालय की एवरेस्ट के बाद सबसे ऊँची चोटी, जो अपने २८ हजार फुट से कहीं ऊँचे टिकासन से जैसे आकाश को टेके हुए है।

मुस्ताग का वह ऐश्वर्य अगर तनिक दब जाता है तो मात्र उस हरमुख शिखर से ही जिसकी १७ हजार फुट की ऊँचाई से कहीं ऊँची उसके देवत्व की महिमा है जिसका रससिक्त वर्णन कालिदास ने हेमकूट के नाम से किया है। यह कुछ अकारण नहीं कि कश्मीरी जनविश्वास उसकी पन्ना सदृश दीप्ति को सांप-काटे की दवा मानता है। हर के सुयोग से निश्चय फणी भुजग भी उस औढर दानी भोलानाथ के कृपापात्रों का अनर्थ नहीं कर सकता। कश्मीरियों के श्रद्धेय उस हरमुख के दक्षिण महादेव पर्वत का शिखर स्वयं कुछ कम श्रद्धेय नहीं और ग्रीष्म की सुषमा में तो उस पर चढ़नेवाले यात्रियों की अटूट परम्परा बन जाती है।

कश्मीर की ललित घाटी की दक्षिण दिशा में अमरनाथ का हिमपुंज खड़ा है जिसका कुसुमस्तबक अपनी अभिराम विभिन्नता में सानी नहीं रखता। पं० नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इसी अमरनाथ का आकर्षक उल्लेख किया है जो भारत के भाल की भाँति हमारे देश का एक सिरा बनाता है जैसे उसका दूसरा सिरा सागरसंलग्न कुमारी बनाती है। उसी शृंखला में कोलाहाइ का शिखर अमरनाथ से भी ऊँचा है जिसकी शाणाकृति पर जब सुबह का सूरज चमक उठता है

सब प्रतिबिम्बित दर्पण की भाँति उसकी चोटी पर नजर नहीं ठहर पाती।

हिमाचल की गरिम गिरिमाला अपनी गोद में जिस प्रकृति की जिस क्रीड़ाभूमि की रक्षा करती है उस कश्मीरी घाटी का कलेवर कमलवनों से भरपूर है। घाटी की मीठे जल की झीलों को प्राकृतिक सुषमा का प्रेमी कौन नहीं जानता? वूलर, डल मानसबल। एशिया का सबसे बड़ी मीठे पानी की झील वूलर घाटी के उत्तर-पूरब अपने विस्तार में अनुवर्ती गिरि शिखरों को अभिराम प्रतिबिम्बित करती है। नीचे श्रीनगर से लगा डल का विस्तार है, पर्वत-श्रेणी के चरण चूमता। परवर्ती गिरिमाला प्रतिबिम्बित उसके जल को कोई अग्रभूमि में बड़े तरुओं की झुरमुट से झाँक कर देखे। गर्मियों में उसका जल लंगर डाले नौनिवासों की कतारों और छिटपुट विहरते शिकारों से ढक चलता है जब संसार के घुमक्कड़ अपनी तीखी परख से उस घाटी के सौन्दर्य को प्रत्यक्ष आँकते हैं अथक भोगते हैं। और उधर यह मानसबल है घाटी की सबसे गहरी झील जिसका हरिताभ नीला जल कितना कमनीय है, यह उसे देखनेवाला आँखों का धनी ही समझ सकता है।

यह तो हुई घाटी की निचली झीलों की बात ऊपर पर्वती ऊँचाई की तहों में बिखरी प्रकृति की कामभूमियों-सी नेत्रपथ से दूरी भी कुछ झीलें हैं जिन्हें न देख पानेवाला यात्री कश्मीर से कचोटते मन से लौटता है। हरमुख पहाड़ों से गग न, सूख गूस और सर्बल हैं जो १२ हजार फुट से भी ऊँची

भूमि पर फैली है।

पीर पंजाल के दक्खिन-पूरब यह कौन्सरनाग है, करीब १३ हजार फुट ऊँचा गिरि-शृंखला की तीन चोटियों से घिरा, जिसे गलते हिम की अटूट धारा सदा भरती रहती है। यही कौन्सरनाग शायद उस झेलम का उद्गम है जो घाटी को घेर-घर अपनी प्रकृत दिशा से लौट-लौट, जैसे उसे छोड़ने के डर से सहमी बहती है। उधर लिद्दर घाटी, कोलहोई और शेषनाग के ग्लेशियर हैं हिमभूमि, जिनकी बर्फ़ की गली धाराएँ गर्मियों में अपने शीतल जल से घाटी के निवासियों को अभितृप्त करती हैं। अलपत्थर अफ़रवत का जमा जल प्रसार खिलनमर्ग के ऊपर है जिसके स्रोत बहिरंग से चोट खा यात्रियों के दल हरवान और शालीमार की धाराओं के छोर ही लेते हैं जिनका जल अमरनाथ के तारसर का वरदान है। यही जल श्रीनगर की प्यास मिटाता है।

घाटी की जमीन अपने विविध ठहरे अथवा बहते जल में बहते धान के खेतों के अनुवर्ती उन चीड़ों चिनारों और सफ़ेदों के फैले वन से ढकी है जिनका विस्तार आमूदरिया की वादियों और फ़रग़ना की याद यात्रियों में ताजे कर देते हैं। फिर भूमध्यसागर-वर्ती अनेकानेक तरुदल जहाँ-तहाँ सहसा आँखों में उठ आते हैं जिनके फलों से अघाकर उनके शेष वमन को कश्मीरी भारत की ओर सरका देते हैं। बादाम और पिस्ता, अखरोट और नाख, नाशपाती और भरी अंगूर और दाख अमित मात्रा में पेड़ों से झरते हैं जिनके यश को अगर कोई वस्तु मलिन कर सकती है तो वह कश्मीर में ही चुनी उन

घाटों की परम्परा है जिसने दीर्घ काल तक संसार के राजाओं का मण्डन किया है और जिनमें से अनेक का विस्तार असामान्य होकर भी कभी आदमी की बधी मुट्ठी में समा सकता था।

इसी घाटी की कमनीयता ने गायक कवियों के मन को मदिर कर दिया था और उन्होंने कितने ही ललित काव्य उसकी सुषमा से प्रभावित लिख डाले थे। भट्ट मन्ट और रत्नाकर, शिवस्वामी और क्षेमेन्द्र, सोमेन्द्र और सोमदेव मंखक और बिल्हण जल्हण और जोनराज ने उन्मद हो-हो कश्मीर की इस घाटी के अन्तरंग-बहिरंग से अपनी कृतियाँ भरी-पूरी कीं। इसी की भूमि ने बुलबुल शाह और शाह हमादान को रिझा लिया था जिनकी सूफ़ी आवाज इसके गाँवों-नगरों में गूंज उठी थी। इसी भूमि पर शाह नूरुद्दीन ने अपने नवस्वीकृत नन्द नाम से 'ऋषियों' की वह परम्परा कायम की जिनके 'वाख' कश्मीरी लोक-साहित्य की आवाज बन गए हैं। उसी 'वाक' की धनी गायिका इस नन्द ऋषि की समसामयिकी वह कश्मीर की मीरा लाल देद (ललेश्वरी) थी जिसके मदिर गायन के वातावरण में कश्मीरी आज भी साँस लेता है जिसके गीत आज भी वह अनायास गुनगुना लेता है। रूपभवानी और अमन देद भी उसी परम्परा की रहस्यमयी साधिकाएँ थीं।

पर उस परम्परा से भिन्न उन नारियों की परम्परा भी कुछ कम न थी जिनकी शक्ति ने पुरुष के पौरुष को राजनीति में चुनौती दी। और स्वयं कश्मीर के सिंहासन पर

बैठ कश्मीर का जिन्होंने सफल शासन किया—उन यशोमती, सुगन्धा, दिद्दा सूटा की।

और यह परम्परा भारत में पीर पंजाल के पीछे फैले तन का एकांग है—उसका उत्तमांग प्रकृति का संवारा अनुपम मुखमण्डन। तभी तो उसके अन्तर से उठ-उठ कवियों ने समूची भारतीय साहित्य भारती को मुखर किया और उन कवियों के अभिमत भाग को अपने सहृदय ललित विज्ञान से जिन्होंने प्रशस्त किया वे भी कश्मीर के ही—भामह और वामन, उद्भट और मम्मट, क्षेमेन्द्र और कुन्तक, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त और रुय्यक।

वही कश्मीर जो सदा से अखण्ड भारतीय संस्कृति का अंग रहा है आज अनायास भारत का राजनीतिक अंग भी बन गया है जिसकी विधान सभा ने अपने निर्वाचनों द्वारा बार-बार समूचे भारत से अपनी अभिन्न एकता घोषित की है। इसी कारण पाकिस्तान की दुर्विनीति और आक्रमण तथा चीन की प्रसरनीति के विरुद्ध कश्मीरी भारत के कोन-कोन से कश्मीर पहुंचे सैनिकों के रक्त में अपना रक्त डाल, उन विदेशी अभियानियों से मोर्चों पर जूझते रहे हैं। भारतीय अखण्डता और नवसीमाओं के प्रसारक कश्मीरी कालिदास नागपुर के निकट के रामटेक से 'मेघदूत' के मधुर द्रुत विलम्बितों में कश्मीर के उस स्वदेश को यक्ष की प्रेमविह्वल कातरता से क्यों न पुकार उठे!

कश्मीर से अभी लौटा हूँ। सप्ताह भी नहीं हुआ। कुल छः दिन हुए।

तीन दिन जाना तीन दिन आना, मुसीबत की राह, पर ऐसी, जिसके पहले सिरे पर वह बहिश्त था जिसकी जानकारी खूबसूरती और कला के पारखी मुग़लों को थी, जो कभी पीर-पंजाल की सफ़ेद बर्फ़ीली ऊँचाइयों को लाँघ गये थे।

घर में कश्मीर की चर्चा हुई। बहन ने लिखा—पता नहीं कश्मीर पर क्या गुज़रे समझौते की बातें चलने लगी हैं। सही, समझौते की बातें चलने लगी हैं, कश्मीर पर आगे क्या गुज़रे! पर वैसे गुज़र तो वही पायेगा जो हम गुज़र आने लगे—और विचारों का एक तांता बँध गया। फिर हुआ, कि चलूँ प्यारे काश्मीर को देख आऊँ फिर एक बार, चाहे इसलिए नहीं कि आगे उस पर क्या गुज़रेगी इसलिए कि उस प्यारा देश में उसके बर्फ़ीले साये में क़लम को रोक ज़रा दम ले लूँ और चक्करी चिनारों के नीचे कुछ दुपहरियाँ गुज़ार आऊँ। चल ही पड़ा। बेटी चित्रा और बेटी की बेटी सारिका के साथ, जब आधी रात के देर बाद पठानकोट एक्सप्रेस बनारस से रवाना हुई। रातों-दिन दिनों-रात, बस की सर्पीली पहाड़ी चढ़ाइयाँ

और साढ़े पाँच हजार फुट ऊँची 'मुद' के पहाड़ों की चोटी का वह डाकबंगला जिसकी सहरी हवा ने पहली मार जलते मदानों की याद भुला लिबास को छेद जिस्म की गहराइयों को छुआ। हम कश्मीर की खुशनुमा घाटी की ओर फिर सर्पीली चाल से चलने लगे।

बानिहाल का दर्रा खासा ऊँचा है। उसके दाहिने पहाड़ी ऊँचाइयों की परिक्रमा करते कभी वह राह जाती थी प्राज वही राह जवाहर टनल की कोई पौने दो मील लम्बी सुरंग से पहाड़ी दीवार को छेद जाती है।

प्रौर उस पार कश्मीर है, शारदा का वह देश जिसने एक प्रोर पामीरों को लाँघ उत्तर की दिशा को ज्ञानराशि लुटाई, दूसरी प्रोर दक्खिन के भारत को अपनी केसर के साथ साहित्य की अमर-बेलि सौंपी। शारदा देश, शीतल, कमनीय। पता नहीं कश्मीर का नाम शारदा कैसे पड़ा—शरद् की शीतलता से वर्षा से प्रसून उस ऋतु से जिसकी शीतलता ने विशिष्ट सर्द फल से कश्मीर को सम्पन्न किया है अथवा सरस्वती के इस साहित्य-मुखर पर्याय शारदा से। जो भी हो निस्संदेह शारदा की पल्लविनी लता कश्मीर की भूमि से फल प्रदान सी अन्तरिम भूगम को ढकती कभी सिंधु-गंगा की घाटी को पार कर दकन के दक्खिन तक आ पहुँची थी प्रौर उसकी रसवती भारती ने समूचे देश का आप्लावन किया था।

कश्मीर का ही वह यक्ष-कवि था कालिदास जिसने अपना अभिशाप्त जीवन रामटेक के पठार पर महीनों बिता क्षिप्रावर्ती उज्जयिनी को दीर्घकालिक आवास बनाया था। प्राय सभी

के कश्मीरी रसवर्षी कवि भर्तृमेण्ठ के प्रबन्ध काव्य से प्रभावित राजा ने भोजपत्रों को ढकने वाली वेठन के नीचे सोने का थाल रख दिया था—काव्य का रस कहीं वेठन को भेद, चू न पड़े।

गुणाढ्य-बिल्हण-कल्हण-कल्हरण-जोनराज—कहानीकारों काव्यकारों इतिहासकारों की कश्मीरी परंपरा! रत्नाकर शिवस्वामी क्षेमेन्द्र सोमेन्द्र मंखक की जिन्होंने रस की धार से कश्मीर की धरा को सींचा! रसवादियों, अलंकारशास्त्रियों काव्यसमीक्षकों का तो यह शारदा देश सदा ही क्रीड़ा भूमि रहा है—भामह वामन, उद्भट रुद्रट मम्मट रुय्यक, उद्भट आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त कुन्तक—काव्यपारखियों की इतनी लम्बी शृंखला किसी देश ने नहीं सिरजी। और जब इन्होंने रस और सौन्दर्य की परख की बुनियाद अपने चिन्तन से डाली तब वह चिन्तन की धारा हिन्दूकुश और पामीरों को लाँघ ईरान और अरब इटली और स्पेन के विदग्ध आचार्यों के सौन्दर्य-परीक्षण और दर्शन चिन्तन का आधार बनी।

उसी कश्मीर की घाटी में अशोक के बसाये उसकी राजधानी श्रीनगर में कभी के अशोक सेवित झेलम के तट पर, जहाँ कनिष्क की संरक्षा में पार्श्व और अश्वघोष ने बौद्ध संगीति का संचालन किया था, खड़ा हूँ। और बार-बार यह दर्द उभर पड़ता है—यह प्रश्नात्मक दर्द—कि विदेशियों ने जिस समझौते में इतना रस लिया है वह भारत के लिए कितना हितकर होगा? क्या यह सचमुच कश्मीर और समावर्ती भारत के आदिम काल से—नीलमतों से भी प्राचीनतर काल से चले

भ्रातृ भले सम्बन्ध का क़ायम और सुरक्षित रख सकेगा ?

कश्मीर पहले भी आया था, पर तब यह प्रश्न सामने न था। दो-दो बार कश्मीर आ चुका था। एक बार प्राय तीन साल पहले, जब कांगड़ा के पहाड़ों में लेखकों का 'वर्कशाप' आयोजित हुआ था और वहाँ से लौटते पठानकोट पहुँचते उस लोभ को संवरण न कर सका था जिसने सदियों पहले मुग़लों को अपनी ओर बरबस खींचा था। मैं तब चुपचाप बग़ैर किसी पूर्व आयोजन के, कश्मीर की घाटी में उतर गया था। पर तब पड़ोसी की पैनी नज़र घाटी पर रहते भी समझौते का सवाल सामने न था। कश्मीर तब भी आज की ही तरह भारत का अभिन्न अंग बन चुका था और समझौते के दानवी दाढ़ों के दूर बाहर था।

पहली बार जब कश्मीर गया था, दूसरी बार की ही तरह अकेला था, जब खम्भरों की राह गिलगित के दर्रे-पठार से चित्राल के बाजू में हिन्दूकुश की फली पर्वतमालाओं को लाँघ गया था पामीरों से उतरती आमू दरिया की अफ़ग़ानी घाटी की ओर, शहरमुग़ान से परे, जहाँ बलख से लगी आमूतीरकी केसर की क्यारियाँ हैं। केसर की क्यारियाँ तो अनेक हैं—आमू के तीर शायद तारीम के तीर भी निश्चय जम्मू में, पर काश्मीर की केसरिया क्यारियाँ न केवल पाम्पुर की गौरव हैं वल्कि उनकी महक सारे भारतीय साहित्याकाश में भिन रही है।

पाम्पुर की क्यारियाँ मेरे सामने थीं जिनके मासदण्डों पर अभी फूलों का अभाव था—जून में उनका भाव भला कहाँ

हा भी कस सकता यद्यपि उनकी याद दिलाने के लिए डा० शान्ता शर्मा ने मुझे जम्मू की केसर का फूल भेंट कर दिया था, जिसके रेशे सूखकर अपनी कोठ खोल चुके थे और पराग, छूते ही जिनसे झड़ पड़ता था।

दो साल पहले नागा पहाड़ियों के ठीक नीचे जुरहाट के चाय-बागानों में सचक खड़ा हुआ था। खतरा तब चीनी आक्रमण की न थी—चाहे रही भी हो पर हमने हमलावर के दाढ़ों को तब तक चीन्हा न था—खतरा थी नागाओं के इक्के-दुक्के छिपे धावों की। पर तब उनका खतरा एकाकी था उन पर किसी की शह अभी नहीं व्याप पाई थी। और न उन्हें भारत के किसी खतरे का ही गुमान था जिससे उनकी अवसरवादिता पनप सकती।

फिर चीनी धोखे के अगले ही माह नेफ़ा के उतार की ओर जाना पड़ा—भूटान सिक्किम, दार्जिलिंग की ओर। उसके पश्चिम काठमाण्डू में कुछ हा पहले कुछ सप्ताह बिताये थे और उस हिमालय के अटूट प्रसार को गद्गद् आंखों निहारा था जो एक ओर नागा-खासी के पहाड़ों को छूता है दूसरी ओर कराकोरम और नगा पर्वत के पास हिन्दूकुश को।

उसी कराकोरम और नगा पर्वत की ओर गुलमर्ग के वासन्ती फूलों के मैदान से ऊपर देवदारुओं के जंगल पार, उनकी मूर्धा खिलनमर्ग की गीली बर्फ़ के मैदान में खड़ा था अफ़रवत अलपत्थर की ओर रुख किये। बार-बार अस्सी मील लम्बी पच्चीस मील चौड़ी कश्मीर की घाटी का पर्दा भरे में निहारता प्रकृति की उस अभिराम सुघराई को सराहता, देख-

देख, सिहर सिहर निहाल होता।

और अब इस पर पड़ोसी शत्रुओं की टोने की आस पड़ी है। एक ने उसकी जमीन पर गलत कब्जा कर मालिकाने सलीपन से उसका हिस्सा हिन्दुस्तान के दुश्मन को सौंपने की जुर्रत की है, दूसरे ने उसके सहारे को अपने बड़प्पन की टेक बनाई है। और उन मित्र राष्ट्रों ने यह सोचकर कि अन्देशे की यह हालत एशिया के आसमान पर छायी रहे हिन्दुस्तान को हमलावर पाकिस्तान से समझौता कर लेने की सलाह दी है।

समझौता किन शर्तों पर? किससे? अभी हमारे घाव हरे हैं, उनकी चोट का दर्द हमें भूला नहीं, न उस शहीद की शहादत की याद ही भूली है जिसके मजार पर आज भी हजारों दीवाने सिजदा करने हर साल जाते हैं। उस साल मैं भी वहाँ गया था बारामूला के ब्रिगेडियर उस्मान के उस मजार पर, जिसकी शपथ प्रत्येक देशभक्त भारतीय की भारतीयता की शपथ होगी। ब्रिगेडियर उस्मान आजमगढ़ का लाल था हमारे बनारस से बलिया से लग छिन आजमगढ़ का, जिसने दम की सामाजिकता की हदें तोड़ समूचे भारत की एकता के लिए बड़ी जवाँमर्दी से कश्मीर की हिन्दू मुसलमान सतियों की रक्षा के लिए—सब सतियों की हिन्दू-मुसलमान जात नहीं हुआ करती—अपनी जान कुर्बान कर दी थी। उस पाकिस्तानी धर्मभिजाजी को भला कौन हिन्दुस्तानी भूल सकता है? जब हिन्दुस्तान के ऊपर हुए पुराने हमलों में मध्य एशियाई लुटेरे कभी माफ किये जाते थे, तब ही कबीलाई पठानों

को गुमराह कर उन्हें कश्मीर की परियों और श्रीनगर के धन का लालच दे पाकिस्तानी जनवाज कश्मीर की घाटी में उतार लाये थे। गुलमर्ग के हरे भरे फूलों के मैदान में खड़े लकड़ी के मकानों को मैंने उस हमले के कई साल बाद देखा था जो तब भी अपनी जली काया लिये वहशी इन्सान के काले कारनामों का इजहार कर रहे थे। पठानों को तय करने के लिए कुल पांच मील श्रीनगर की राह बच रही थी जब हिन्दुस्तान के जवानों ने पांसा पलट दिया था और दुश्मन उलटे पांव लौट गये थे।

श्री प्रताप कालेज के पंजाबी के प्रोफ़ेसर सरदार सेवासिंह राह के उस गांव के थे जिसने अपनी आंख से पठानों के जत्थे आते-जाते देखे थे। उन्होंने आंखों देखा बयान मुझे सुनाया था। पठानिस्तान के सवाल का दवा देने का ज़रिया पाकिस्तान के लिए तब शायद कोई और न था।

सरदार सेवासिंह की याद और दोस्तों की भी याद दिलाती है। कश्मीरी के प्रसिद्ध कवि नादिम को एक ज़माने से जानता था। जैसे ही शिकारे से झेलम लांघ 'बंड' से उतर जवाहरनगर की ओर जा रहे थे मिल गये थे और सालों बाद मिलने पर भी एक दूसरे पर अटकती नजर डाल कर भी हम एक-दूसरे को पहचानने से न चूके थे।

मणि दोस्त लोधसानी हरेकृष्ण कौल के साथ पहले भी मिल चुके थे इत्तफ़ाक से केवल एक बार उस पिछली रात को जिसकी अगली सुबह कश्मीर के अपने दूसरे प्रवास से मैं लौट आया था। उनके मित्र, मेरे भी रतनलाल शान्त पहली बार

मुझे उस व्याख्यान में मिले थे जिसका प्रबन्ध श्री चमनलाल सप्रू ने किया था और जिसकी सदारत श्री प्रताप कालेज के प्रिंसिपल सफ़ुद्दीन साहब ने की थी।

झेलम की अगणित धाराओं से जैसे श्रीनगर पोर-पोर बिंधा हुआ है। कश्मीर की समूची घाटी पन्ने के रसते सोतों से इन्च-इन्च सिंच रही है और प्रकृति की इस सुषमा को मानवीय परख ने भास्वर बना दिया है—अफ़सोस काश्मीर की मानवीयता ने नहीं, गंगा-यमुना की मानवीयता ने जिसने सदा कश्मीर को अपना समझा है, सदा उसे अपने माथ की मणि बनाकर रखा है।

देखता हूँ हाथियों की, घोड़ों की, पालकियों की उन सुनहरी-रुपहली कतारों को, जब मुग़लों का वैभव फ़रग़ना के सपनों को भूल पीर पंजाल को लाँघ उस सुरानुमा घाटी में उतर जाता था। उनके प्रसाधक हाथों ने कश्मीर की प्रकृति का सोलह सिंगार किया—शालीमार, निशात, चश्माशाही, अच्छवल झेलम का निकास वेरीनाग, एक के बाद एक जादू की लकड़ी से जैसे उनके हाथों उभरते-सवरते आये। अकबर जहाँगीर, शाहजहाँ कश्मीर में रम गये थे। नूरजहाँ कश्मीरी प्रकृति के देवमन्दिर की अमर पुजारिन बनी और समूची घाटी अकबर के लगाये चिनारों से, सफ़दों से उमग उठी। मैदानों में चिनार सप्तपर्णी छायातरु और राजमार्गों के दोनों ओर पतले छरहरे ऊँचे सफ़दे जिनके शिखर को पतली-लम्बी छड़ी की-सी डालियाँ नोकवत् ढक लेती हैं।

सफ़ेदे ऊँचे होकर भी चिनारों के सामने जैसे ठनाने लगते

है सही सरों के-से बनाने जो वस्तुत आज कश्मीर के भी प्रतीक बन गये हैं। उस कश्मीर की याद, उससे दूर हो आज सपने की-सी लगती है फिर याद ऐसी जो उमड़-घुमड़ मन में उठती है उन मित्रों की ही तरह जो साँझ को घना घास घूमकर, थककर लौटे मेरी सोहबत में चन्द लमहे गुजारने चले आते थे।

गोनंदों ने जिसे पूजा करकोटकों ने जिसे सवारा, उत्पलों लोहरों, साहियों ने जिसे शक्ति समर्पित किया ललितादित्य ने जिसकी समस्त उत्तरी सीमा पर विजयस्तम्भ निर्मित किए। उस पवित्र भूमि का कौन हाथ लगा सकता है? अलवर्ती वह सौन्दर्य की परम्परा, पश्चिमा को अभिसार मीठे पानी की वह झोल वुलर जिसमें इठलाकर आकर झेलम फिर निकल पड़ती है अपनी सपिल राह ले लेती है जहाँ आकर वर्मन का पाटन सूर्य का सोपुर (जहाँ के प्रधान निवासी यहाँ के कश्मीरी मुद्ध कर अपना नाम शिवपुरी लिखने लग हैं!) कनिष्क का कानिष्कपुर, हुविष्क का हुष्कपुर, संस्कृति के पहरुए आज भी जाग रहे हैं।

कश्मीर-सम्बन्धी भारतीय संकट उसके अमर साहित्यकारों की देवछाया को जैसे भूर रहा हो आज कुसुम की भाँत झेलम की घाटी पर लगी है उनकी केसर की क्यारियों पर। पर कश्मीर ने आज केसर तन पर धारण किया है परिधान के रूप में केसरियाबाना, जो बलिदान का परिणाम है और जिसकी सौरभ का वह निश्चय अपने संकट को सौंप जायेगा।

११ पाकिस्तानी शोले और कुंकुम की प्रतिरक्षा

कश्यप ने ८० मील लम्बी २५ मील चौड़ी पर्वतों से घिरी कश्मीरी झील को सुखाकर धानों के खेत, फलों के बाग और पाम्पुर (पद्मपुर) में कीमती केसर के फूल उगाये। शान्तिसेवी, देखने में काफ़ी कमज़ोर कश्मीरी जाति ने वहां डेरा डाला जहां प्रकृति ने दोनों हाथों मुखराई के फूल बरसाये थे। एशिया की सारी जातियां पामीरों के पीछे की समूची दुनिया—चीनी तुर्किस्तान से खुरासान—ईरान तक—कश्मीरी खूबसूरती की क़सम खाती थी समरकन्द और बुखारा के कारीगर कश्मीरी कारीगरों के हाथ चूमते थे कश्मीरी नार मध्य एशिया की कहानियों में परियों का आदर पाती थी।

पाम्पुर के मैदानों में केसर फूलता था आज भी फूलती है। कश्मीरी आख्यानों में उसकी कहानी बार-बार कही गयी है। तक्षक नाग आंखों की पीर से बेहाल प्रसिद्ध वैद्य वाग्भट्ट के पास पहुंचा। हकीम ने हज़ार हिकमत की पर काम एक न आयी, और नाग तड़पता रहा। वाग्भट्ट ने उसका भेद जान लिया—नाग के मुंह से जो ज़हर की भाप बराबर निकलती रहती थी वह दवा के असर को झुलस देती थी, हर दवा बेकार हो

जाती थी। वाग्भट्ट ने पहले नाग का मुह बांधा फिर दवा लगाकर आंखें बांध दीं, फिर मुह का बन्धन खोल दिया। उपकृत नागराज ने वयराज को पूस की एक कली दी कुंकुम का बीज, जिसे वाग्भट्ट ने जमीन में डाल दिया। वद्य के पास किसान की क्षमता कहां थी जो पौध को सींचता उसे खाद देता ? पर बीज का असर उसने कुछ ही सालों बाद देखा जब उसके निवास पद्मपुर के खेतों में केसर के पौधों का सागर लहरा उठा—लाल नारंगी रेशों से भरा बैंगनी सागर—जिसे जिसने देखा मुग्ध हो गया और जो आज 'कश्मीरजन्मा' कुंकुम झेलम की उस घाटी कश्मीर का पर्याय बन गया है। अरबों ने कश्मीर की केसर की पौध पश्चिम में लगायी, दसवीं सदी में स्पेन तक में वह पौध फूली, और कहते हैं १८वीं सदी तक इंग्लैंड तक में लन्दन के पास, उसके फूल उगाये और तोड़े जाते रहे।

कश्मीरजन्मा कुंकुम कश्मीर में भी पौध-पौध फूला पौध पौध तोड़ा गया। अबुलफ़ज़ल के कहने के मुताबिक पाम्पुर की दस-दस बारह-बारह हजार एकड़ जमीन मुग़लों के समय केसर से ढक जाया करती थी। जिन्होंने कश्मीर को चिनार दिये सफेदे दिये बागोबहार दिये और इस जरिये फ़रग़ना-बदख्शां के सपने टूट जाने पर उनको कश्मीरी जमीन पर सदेह उतार कर रखा उन्हीं मुगलों से—शहंशाह अकबर से। बीरबल ने कहते हैं पाम्पुर की केसरिया जमीन मांगकर उन्हें चकित कर दिया। शहंशाह ने पूछा अब क्या दें बीरबल ? गांव नगर बहुत दे चुका हाथी घोड़ों की अकबर

क 'नवरत्नों' के नग राजा बीरबल को कमी नहीं फिर मांगो बीरबल तुम्हीं कुछ ऐसा मांगो, कि देकर निहाल हो जाऊं। और बीरबल न मांगी चार बीघा जमीन। सारा दरबार हंस पड़ा पर अकबर बिहंसकर नी हंसा नहीं। उसन जाना कि नवरत्नों का नग अपनी कीमत की चीज मांग रहा होगा। उसन फिर पूछा—कहां? बीरबल न भेदभरी मुस्कान के साथ जवाब दिया—पाम्पुर में। और पाम्पुर क जायफ़रानी खेत उसे देकर अकबर ने देन की साध मिटा ली।

पाम्पुर के केसर के खेतों पर आग बरसन को हुई। ववरता और कर ही क्या सकती है? दोनों ओर स उसन जतन किए, मुजफ़्फ़राबाद—बारामूला की ओर स गिलगित की ओर से। और अगर भारतीय सना वहां न पहुंच जाती तो पाम्पुर के इन खेतों पर भी आज आग बरसती होती जैसे बारामूला और पट्टन की ललनाओं के ललाट के कुंकुम पर कभी बरसी थी।

मुजफ़्फ़राबाद की ओर स पाकिस्तानी पठानों ने जब हमला किया तब गिलगित में भी एक घटना घटी। कश्मीर के महाराजा हरीसिंह न १९३५ में ब्रिटिश सरकार को ६० साल क लिए गिलगित का पट्टे में लिख दिया था। पर सन् ४७ में समूचा हिन्दुस्तान का तरह कश्मीर भी आज़ाद हो गया। पट्टा अपने-आप क़ानूनन टूट जान स कश्मीर क दरबार न शासन क लिए गिलगित एक गवनर भेजा। मेजर ब्राउन और उसका जमात का उकसाकर पाकिस्तान न उनस बग़ावत करा दी और कश्मीरी दरबार के गवनर को क़ैद में डलवा दिया। साथ ही समूचे गिलगित पर कब्ज़ा भी कर लिया, जिससे

अफ़ग़ानिस्तान और रूस का पड़ोस भी भारत की आंखों से ओझल हो गया।

उधर बारामूला की राह गांवों-नगरों को लूटते-जलाते पाकिस्तानी हथियारों से लैस, उनकी फ़ौजी गाड़ियों पर लदे, पठान श्रीनगर से पांच मील के भीतर आ पहुंचे। शान्तिप्रिय देश अमन का आन मानने वाले कश्मीरी जो अब तक कराह रहे थे चुप बैठे न रह सके। कश्मीर का मात्र राजनीतिक दल 'नेशनल कान्फ्रेंस' जो पिछले पन्द्रह सालों से देश को जनता को जगा रहा था मैदान में उतर आया। हिन्दू-मुसल मान में कोई भेद न रहा और उसने दोनों की इकट्ठी राष्ट्रीय फ़ौज खड़ी की। उधर अक्तूबर में उसने मजबूर किया कि माउण्टबेटन के एलान के मुताबिक रियासत के राजा हरीसिंह तत्काल उड़कर दिल्ली जाएं और अपनी रियासत को भारत के प्रजातंत्र में मिला दें। महाराज हरीसिंह तत्काल उड़े और उन्होंने दिल्ली में ब्रिटिश एलान के मुताबिक कश्मीर को भारत को अर्पण करते हुए 'इन्स्ट्रूमेण्ट आफ़ ऐक्सेशन' पर हस्ताक्षर कर दिये और कश्मीर कानूनी तौर पर भारत का अंग बन गया जैसे क़लात पाकिस्तान का अंग बन गया था। भारत अपने राजनीतिक शरीर के नवांग—कश्मीर को बचाने के लिए युद्धसकल्प कसब्याल्ध हुआ और उसकी सेनाएं श्रीनगर के द्वार पर 'नेशनल कांफ्रेंस' की नेशनल मिलीशिया के साथ जा डटीं। 'लन्दन टाइम्स' के संवाददाता ने लिखा—'श्रीनगर अभुओं से कुल चार मील दूर रह गया है, सब कुछ बनावटी लगता है लगता है कि यह हमला बड़ा घोर क्रूर है पर कश्मी

की रक्षा के लिए जो जानें तड़प रही हैं उनका क्या होगा ? बेशक, हमारा नेशनल मिलीशिया के जवानों की भोर था, जो अपनी जान हथेली पर लिये श्रीनगर-बारामूला की ओर से पहुंचनेवाले नाकों पर खड़े थे एथेन्स की रक्षा में ईरानी सम्राट जरक्सीज की राह रोके जस कभी स्पार्ता के वीर खड़े हुए थे। उन्हीं नाकों पर मुहम्मद मक़बूल शेरवानी और मास्टर अब्दुल अज़ीज जूझ मरे थे और अब भारतीय सेना का मुसलिम सिपहसालार उस्मान जूझा। पर पाकिस्तानी फ़ौजों की राह कश्मीर में बन्द गयी। लुटेरों को जिधर राह मिली उधर वे भागे। राह एक ही थी, अपना ही लूट उजाड़े अजाये गाँवों का, बारामूला की राह, पाकिस्तान की ओर।

केसर के खेत बच गये वुलर की उजड़ती हुई दुनिया बच गयी, कुंकुम आशीर्वाद की इज्जत और शान बच गयी, भारत का कश्मीर बच गया। फ़ारसी कलाम है, इन केसर के खेतों के निस्बत—'आफ़ताबे दीदा बायद राहे हिन्दुस्तान गिरिफ़्त'— केसर के फूल जब पकने लगें तब हिन्दुस्तान की राह लो। तब सर्दियों का मौसम होता है और बर्फ बरसाते आसमान के नीचे मुसाफ़िरों को सम्हाल पाम्पुर में सम्भव नहीं, जिससे यह कहावत चली पर अटी उन पर आ न उनके मालिक थे, न सौदागर, न उनकी खूबसूरती निहारने वाले मुसाफ़िर। पर वे मौते कश्मीरी केसर की बास छोड़, जब हिन्दुस्तानी फ़ौजें उनकी पीठ पर आ पहुँचीं।

नेशनल कांफ्रेंस कश्मीरी जनता की स्वीकृत राजनीतिक पार्टी थी। मुग़लों अफ़ग़ानों, सिक्खों, डोगरा से शोषित कश्मीरी

जनता ने पहली बार उसमें अपना प्रतिनिधान पाया था। नेशनल कान्फ्रेंस ने वयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक अधिकारों की माँग की और उसकी माँग को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सराहा, महात्मा गांधी अबुलकलाम आजाद वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू ने कश्मीरी आकांक्षाओं को अपने आशीर्वाद से मूर्तिमान किया। जब कश्मीरी दरबार का नेशनल कान्फ्रेंस ने अपने 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन से सामना किया तब दरबार ने तो उसे कुचल डालने के उपक्रम किये ही पाकिस्तान के क़ायदे-आज़म मुहम्मदअली जिन्ना ने उस आन्दोलन का 'कानून और व्यवस्था तोड़नेवाले लुटेरों की बदअमनी' कहा पर पंडित नेहरू ने अपने कश्मीर प्रवेश पर निषेध होने पर भी कान्फ्रेंस की मदद के लिए प्रवेश का सत्याग्रह किया और पकड़े गये। इस तरह कश्मीरी नेशनल कान्फ्रेंस का वह आन्दोलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्वतन्त्रता अभियान का ही एक दामन था पर उसकी हुकूमत की बेबाक मुसलिम लीग क़ायल न थी। नेशनल कान्फ्रेंस ने अपने दोस्त और दुश्मन को पहचाना अपने आबरू और अस्मत के बचानेवालों को पहचाना और अगले ही साल सन् ४८ के अक्तूबर में कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग और कश्मीर के भारतीय जनतन्त्र में प्रवेश को पूर्णतः संपन्न ऐलान किया।

वस्तुतः यही समुचित सवैधानिक प्रक्रिया थी। पाकिस्तान की खासी अवसरवादी नीति का जवाब न तो जनमत है न राष्ट्रसंघ का निर्णय—उसका जवाब बस यही है कि ब्रिटिश सरकार की घोषणा के अनुसार देशी राज्यों के प्रमुखों को जो

अधिकार प्राप्त था उसी अधिकार से कश्मीर के राजा हरीसिंह ने अपने राज्य को पाकिस्तान में पाकिस्तानी राज्यों की तरह भारत में भारतीय राज्यों की तरह अपनी इच्छा से, अपनी प्रजा कश्मीरियों की पाकिस्तानी लुटेरों की लूट बलात्कार, अग्निकाण्ड की बर्बरता से रक्षा के लिए भारत के अन्तर्गत कर दिया, जिस सवधानिक और कानूनी क्रिया का समर्थन शीघ्र ही बाद कश्मीरी जनमत से निर्वाचित कश्मीर की विधानसभा ने उसके नेशनल कांफ्रेंस मे अपनी घोषणा द्वारा सपुष्ट कर दिया। और अब भारत अपने उस राज्य की रक्षा के लिए अपना धन-जन उसकी स्वतन्त्रता की वेदी पर उसके रक्षा-कार्य में न्योछावर कर देगा।

पर बात तो केसर की थी कश्मीरी कुंकुम की। केसर जल्दी मरती नहीं जल्दी उगती भी नहीं। आठ साल जमीन बनायी जाती है बोने के तीन साल बाद उसमें अखुए फूटते हैं चौदह साल—राम के वनवास जैसी तप की अवधि तक—जीवित बनी रहती है। और इस बीच उसे न तो खाद की जरूरत होती है न सिंचाई की। बगर गर्मी की लपट से झुलसे, बगर आती हुई बर्फ की चोट से मरे हिम आतप दोनों से ऊपर उठ, पौध-पौध फूलों स भर जाती है और फूलों का बैंगनी समुन्दर पाम्पुर के खेतों पर लहरा उठता है। यह खास केसर के बैंजनी फूलों का समुन्दर सचमुच कभी दुश्मन के फेंके आग के शोलों से झुलसने का नहीं।

१२

पाकिस्तानी हमला और कश्मीरी अंग्रेज

सन् १९४७ के गिलगित के मेजर ब्राउन के विद्रोह और पाकिस्तान के उस विद्रोह से लाभ उठाकर गिलगित पर अधिकार कर लेने की जो घटना इस देश में बार-बार कही और सुनी गई थी उसने अंग्रेजों की कूटनीति के खिलाफ़ नौजवानों में एक तूफान उठा दिया था। अंग्रेजों के विरुद्ध तब भारतीयों की तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। पर ठीक तभी उसी कश्मीर में कुछ यूरोपियनों ने जिस धीरज के साथ पाकिस्तानी कबीलाई लुटेरों के हमले का सामना किया और अपनी वीरता द्वारा कश्मीरी लाज की तन रहते रक्षा की थी, वह कहानी यद्यपि यूरोप और अमेरिका में महीनों कही-सुनी जाती रही थी भारत में बिनकही ही रह गई थी।

कश्मीर की उस दिल हिला देनेवाली लोमहर्षक कहानी को कश्मीरियों से ही सुनकर अभी वहां से लौटा हूं और यद्यपि उसे पास के मित्रों से बार-बार कहा है जैसे कश्मीरी दोस्तों से सिहर सिहर सुना था उसे लिख डालने का लोभ भी संवरण न कर सकूंगा।

बात अभी की है सन् १९४७ की, भारत के विभाजन के

समय की जब दस मजहबी कठमुल्लों के कारनामों का शिकार, लहूलुहान हो रहा था और पंजाब तथा बंगाल खून की होली खेल रहे थे। पाकिस्तान ने सोचा चलो लगे हाथ कश्मीर को भी हड़प लें और उसने स्वात चित्राल के कबीलाई पठानों को अपने साधन का अस्त्र बनाया। और उनकी आग कश्मीर के रंगबिरंगे शालों-फिरन पर फेंकने के पहले उसने कश्मीर को जेर कर लेना मुनासिब समझा।

कश्मीर में झेलम की राह पाकिस्तान या यों कहिए कि अविभाजित भारत से तन ढकने के लिए अनिवार्य अनेक चीजें आया करती थीं—पेट्रोल, गेहूं, नमक, मिट्टी का तेल, कपड़ा सभी। पाकिस्तान ने इनका भेजना बन्द कर कश्मीर का ब्लाकेड पूरा कर दिया। कश्मीर रोज के इस्तेमाल की चीजों के अभाव से परेशान हो उठा, मुसीबत पर मुसीबत झेलने लगा।

और तभी पाकिस्तान ने उस पर गहरा वार किया। अपनी जमीन पर कबाइली इलाके के पठानों का ला खड़ा किया। कभी मध्य एशिया की गुमराह और लूट और लहू के नाम पर दौड़ पड़नेवाली जातियां जैसे मजहब के झंडे के नीचे खड़ी कर ली जाती थीं वैसे ही ये खूनी खानाबदोश कबीलियां अपने मिट्टी के कोटों से, पहाड़ी दर्रों से भूखी नंगी, पाकिस्तान की बरगलाई खून की प्यासी बन्दूकें लिए कश्मीरी हूरों और कीमती वस्तुओं के लोभ से कश्मीर की सीमा पर ला खड़ी की गईं।

तीन सितम्बर को तीन सौ कबीली कश्मीर की ओर अपने निशान अपने सहायक तोपों-बन्दूकों से लैस हो चले। सांबा

के पास छिपकर उन्होंने एक कश्मीरी को मार डाला। तभी जम्मू पर हमला हुआ जम्मू प्रान्त के रणवीर सिंहपुरा से बारह मील दक्खिन-पूरब दोहासी नाम के गांव पर। चार सौ पाकिस्तानियों ने आग्नेय हथियारों के साथ गांव पर हमला किया निहत्थों को मार डाला घरों को जला दिया।

और तब २० अक्तूबर १९४७ को ठीक उस दिन से पन्द्रह साल पहले जिस दिन चीनियों ने नेफ़ा पर हमला किया था पाकिस्तानी कबीलाई पठानों ने जो अब तक मजहब और लूट के नाम पर इकट्ठे किए जाते रहे थे मुजफ्फ़राबाद की कश्मीरी सरहद पर हमला किया। यह हमला कई राहों से हुआ मुजफ्फ़राबाद की राह उनमें प्रधान थी। पठानों के हाथ पाकिस्तान द्वारा दिए हथियारों—ब्रेनगनों, स्टेनगनों गोले-तोपों होवित्सरों-टेकमार बंदूकों जमीनी माइनों—से भरे थे। हमला खूनी हुआ और जब-जब जहां-जहां पठानों में व्यवस्था बिगड़ी तभी पाकिस्तानी फ़ौजों ने उनकी जगह ले ली।

मुजफ्फ़राबाद के बाद दोमेल की बारी आई, फिर उरी की बारामूला फिर पट्टन की। और अब दूसर जाते समय बस के ड्राइवर ने उरी बारामूला और पट्टन की ओर इशारा किया तब आंखें जैसे बरस पड़ने को हो आईं। बारामूला में ही खूनी पठानों की राह रोकते हुए मेरा पड़ोसी आजमगढ़ का ब्रिगेडियर उस्मान कश्मीर की लाज रखने के लिए शहीद हुआ था और पट्टन की याद ने तो कश्मीर का इतिहास ही तन के रोम रोम में जगा दिया—कश्मीर के प्रसिद्ध विजेता शंकरवर्मन् की राज धानी रहा था यह पट्टन जहां थोड़ी ही दूर पर कुसुम बसर

में समाकर फिर निकल पड़ती है और उसी पट्टन को हमला-वरों ने कत्लेआम द्वारा तलवार के घाट उतार दिया। इन सारे अधिकृत नगरों की कहानी तब लूट की थी, हत्या, बलात्कार यन्त्रणा की। हमलावर श्रीनगर के पास तक पहुंच गए और उसे और दूसरे कश्मीरी नगरों को बिजली पहुंचाने वाले महोरा के हाइड्रो-एलेक्ट्रिक स्टेशन का नाश कर डाला। आस-पास के नगर अन्धकार में विलीन हो गए।

राह के गांव-नगर चिंगेज और तमूर की याद दिलाने लगे उनके चले, खड़े भवखड़े मकान पठानों की गई राह बताने लगे। आहतों के चीत्कार, मजिरों की कराह, बलात्कृतों की पुकार लूट और हत्याओं की हुंकार तपुर-जनपद जब आक्रान्त हो गए तभी वह घटना घटी जिसका जवाब कलंक भी नहीं है पर जिसको प्रतिकारी हथियारबन्द सिपाहियों ने नहीं चन्द यूरोपीय पादरियों ने, निहत्थे पुरुषों और स्त्रियों न ईसा के बन्दों ने, घटाया था।

बारामूला में सन्त जोजेफ़ का कन्वेंट था। पठानों न उस पर हमला किया। शान्ति की रक्षा के लिए, अपने स पहले उस दानवीयता का शिकार न होने देने के लिए, अधेड़ और वृद्ध पादरी एक के बाद एक सामने आते गए, तलवार और बदूक क घाट उतरते गए। क़ायदे-आज़म के मजहब क बन्दों मे जो 'अस्सलाम' शान्ति क नारों से एक-दूसरे का स्वागत करत हैं, उन भगवान क फ़रिश्तों का ईमान के लिए हलाल कर दिया।

लन्दन के 'डेली एक्सप्रेस' के सवाददाता सिडनी स्मिथ से

उस कन्वेंट के निवासी फ़ादर जार्ज शक्स ने अपनी आँखों-देखी घटना का बयान किया—पठानों ने पाकिस्तानी हमलावरों ने अस्पताल के रोगियों के वार्ड पर हमला किया और उन पर बेतहाशा गोली चलाने लगे।

एक मुस्लिम महिला ने अभी-अभी बच्चा जना था। हमलावर उस पर झपटे। बीस साल की जवान नर्स ने अपना जिस्म उसकी रक्षा में आगे कर दिया। भगवान बचाए बताना पड़े कि उस सहोदा का क्या हुआ। पहले वह गोली से मार दी गई बाद को फिर बच्चा।

मदर सुपीरियर को जैसे काठ मार गया पर वह वृद्धा अपना कर्तव्य पालन करने मौत के पयाम के बावजूद आगे बढ़ी। उसने साथियों को बचाना चाहा। उस पर हमला कर खूनियों ने उसे लूट लिया। फिर जब सहयोगी मदर ने देखा कि एक पठान मदर सुपीरियर को मारने के लिए बंदूक उठा चुका है तब वह दौड़ी और क्षण भर में उसके सामने आ गई। गोली उसके जिस्म के पार हो गई और वह साथी के ऊपर लुढ़क गई। मदर सुपीरियर अभी जिन्दा थी उसने रक्षा का प्रयत्न करनेवाली सहकारिणी को धन्यवाद देने के लिए मुंह खोला ही था कि मशीन और गोला दोनों ने उसका अन्त कर दिया।

ब्रिटिश फ़ौज का रिटायर्ड कर्नल डाइक्स विश्राम के लिए वहीं ठहरा हुआ था। जब उससे यह अनर्थ न देखा गया तब उसकी सैनिक वृत्ति जागी पर कर्नल समझे कि वह कुछ कर सके कबाइलियों ने उसे पकड़ लिया और उसका जिस्म गोलियों

से छेद दिया। पत्नी मिसेज डाइक्स पति की मदद के लिए दौड़ी, गोलियों का शिकार हो गई।

'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता रावर्ट ट्रुवस ने १० नवंबर, १९४७ को बारामूला से लिखा कि कबिलाई भय से भागने से पहले नगर का धन भरपूर लूट चुके थे, एक-एक युवती छीन चुके थे। शिकागो डेली ट्रिब्यून को भेजे अपने 'डिस्पैच' में असोशिएटेड प्रेस के फ़ोटोग्राफ़र ने लिखा—'कम से कम बीस गांवों को धूम्राधार जलते मैंने अपनी आंखों देखा है गांव, जिन्हें मुस्लिम हमलावरों ने अग्निसात कर दिया था।

कश्मीर अपने घावों को सहलाकर फिर खड़ा हो गया, पर उन घावों से उसे बचा रखने के लिए ईसाई अल्लाह के उन यूरोपीय बन्दों ने बारामूला को जमीन पर आने दे दी। कश्मीर चाहे अपने घावों को भूल जाए पर अपने इन रक्षकों को न भूल पाएगा। कश्मीर के लिए अभी कितनी कुरबानियां और करनी होंगी ? पर क्या कोई कुरबानी उसके लिए काफ़ी हो सकती है ?

१२ दिग्विजयी ललितादित्य और कश्मीर की सीमा

जैसे आज भारत की उत्तरी सीमा कश्मीर पर दो-दो ओर से संकट के बादल उमड़ उठे हैं, कभी पहले भी इस देश को उनका सामना करना पड़ा था और अपने संकट के मेघों को भेद वह सूर्य की भांति फिर चमक उठा था। आज के संकट में इतिहास के उस पुराने संकट और उसके सफल प्रतिकार की कहानी की याद प्राकृतिक है।

सातवीं सदी ईस्वी के अन्त की बात है, आठवीं के शुरू की, जब कश्मीर की सीमा पर पूरब में तिब्बती भोटिये मंडरा रहे थे, उत्तर में चीन बढ़ा आ रहा था, पश्चिम में अरबों के रिसाले काबुल की घाटी पर आंख गड़ाये हिन्दूकुश के उतार पर बदख्शां तक फैल उसके दामन को खींच-खरोंच रहे थे और कश्मीर अपनी स्वतन्त्र स्थिति के प्रति शंकित हो उठा था। कारण कि कश्मीर तब समूचे भारत का मस्तक न था, अंग न था, भारत तब भारत भी न था। उसके तब अनेक अंग थे सब एक-दूसरे से स्वतन्त्र, यद्यपि एक-दूसरे की मदद करने से वे कभी चूकते न थे।

काबुल पर उन शाहियों का शासन था जिन्हें कभी

समुद्रगुप्त ने देश से बाहर निकाल दिया था पर जो क्षत्रिय कर्तव्य में दक्ष हिन्दूकुश की ऊंचाइयों पर चढ़े देश के पहरुये बने थे और जो एक ओर ईरानी और मध्य-एशियाई अरबों की चोट सीने पर झेल रहे थे दूसरी ओर सिन्धी अरबों के तेवर से सशंकित थे। तभी चीनी सम्राट ने कूचा खुतन, तुग सान पर अधिकार कर लिया फिर धीरे-धीरे बालतिस्तान भी उसके परों में आ गिरा। कश्मीर के राजाओं के कान खड़े हुए क्योंकि यह आखिरी बार उनकी सरहद पर था काराकोरम की पर्वतमाला तक। घटनाओं के चक्र चले क्रियाएं प्रतिक्रियाएं राजनीति के क्षेत्र में हुईं और अभी कशमकश जारी ही थी कि बाप का बेटा ललितादित्य मुक्तापीड दो भाइयों के बाद कश्मीर की गद्दी पर बैठा।

ललितादित्य मुक्तापीड का शासनकाल कश्मीर के इतिहास का प्रकाशबिन्दु है। कश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी के चौथे तरंग में इस दिग्विजयी नृपति की चर्चा प्राय ढाई सौ श्लोकों (१२६–३७१) में बड़े मनोयोग से की है। ललितादित्य वीर था, मनस्वी था, नगर और वास्तु-निर्माता था। कश्मीर की डांवाडोल राजनीति उसकी चिन्ता का विषय बनी और उसी के अनुरूप उसमें महत्वाकांक्षा का जन्म हुआ। कल्हण लिखता है कि नदियों का व्यय समुद्र होने से उनकी यात्रा की सीमा होती है पर महत्वाकांक्षी जनों के मनोरथों की कोई सीमा नहीं होती और ललितादित्य की दिग्विजयिनी आकांक्षाओं की भी कोई सीमा नहीं थी।

पर वास्तविकता तो यह थी कि ललितादित्य अपनी

सीमाओं की रक्षा का साधन-मात्र अपनी महत्त्वाकांक्षा को बनाना चाहता था और उसने सोचा कि जब तक शत्रुओं के राज्य सीमा तक के स्वतन्त्र राज्यों पर अधिकार न कर लिया जाएगा कश्मीर का सङ्कट तब तक बना ही रहेगा। इससे उसने अपनी विजयों की एक योजना तैयार की।

उसी के राज्य कश्मीर के कभी के स्वामी कनिष्क का सङ्कट उसका बनाना न था। कनिष्क ने काबुल और आमू दरिया की घाटियों के साथ ही काश्मीर की घाटी को भी अपने साम्राज्य का अन्तरंग बनाये रखा और कश्मीर के सबंध में तो उसे चीन से कितनी ही लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। अन्त में जब चीनी सम्राट् के करद चीनी उपराज्यों पर अपनी प्रभुता प्रतिष्ठित कर उनके राजपुत्रों को पंजाब और पेशावर में अमानत के तौर पर छोड़ कर उसने रखा तभी कश्मीर का वह चीनी सङ्कट टल सका। ललितादित्य के पड़ोसी हिन्दूकुश के शाहिय राजा फिर भी अरबों से उसके वामपार्श्व और पश्चिमी सीमा की अपनी रक्षा द्वारा स्वाभाविक ही रक्षा कर रहे थे। उसे भिड़ना चीन और तिब्बत से था और उत्तर के उन मध्य-एशियाई राष्ट्रों से जिनके चीनी अथवा अरबी दोनों प्रसरनीतियों द्वारा अकालकवलित हो जाने का डर था। पर इन प्रबल शत्रुओं से भिड़ने के पहले यह आवश्यक था कि वह अपनी पीठ के सम्भावित शत्रुओं को यथाक्रान्त कर ले। कन्नौज बङ्गाल और आसाम के राजाओं को अपनी प्रखर प्रभुता से विजित मित्र बना उसने उत्तर की ओर रुख किया।

सबसे प्रथम सम्भवत चीन से भी प्रबल तब तिब्बत था

जिससे चीन की भी अकसर मुठभेड़ हो जाया करती थी। मद्राल के लिए कश्मीर और भोट यानी तिब्बत में युद्ध तो आये दिन हो ही जाया करते थे। इन प्रबल शत्रुओं को पूरब और उत्तर-पूरब छोड़ ललितादित्य ने पहले उत्तर-पश्चिम की ओर रुख किया, इस भय से कि प्रबलतम शत्रु से लोहा लेते समय अपनी सारी विजित शक्ति उस मार्चे पर सकेंद्रित कर दी जा सके।

पहले वह उत्तर-पश्चिम की ओर चला। अश्वसाधन कम्बोजों की ओर जो घोड़ों की नस्लें तयार कर बेचा भी करते थे सफल घुड़सवार भी थे। यह अत्यन्त प्राचीन पर अंसे परम्परासिद्ध बात थी कि भारतीय विजेता जब घर से बाहर देखते थे तब पहले आमू या वक्षु की घाटी की ओर, बदख्शां की ओर ठीक जैसे उस घाटी और उसके फरगना-बदख्शां से बाबर ने हिन्दुस्तान को देखा था, फिर उसके हिन्दुस्तानी वंशजों ने बार-बार हिन्दुस्तान से उस घाटी को जीतने के सपने देखे थे। बहुत पहले कभी रघु ने उस घाटी से लौटते हुए कम्बोजों के अखरोटों भरे वन को जीता था। ललितादित्य ने भी पहले उसी देश की ओर रुख किया और कल्हण लिखता है भागे हुए कम्बोजों के कारण घुड़सालों के खाली हो जाने से उन पर अन्धकार का कालापन जा छाया सो लगता था जैसे भैंसों ने उन पर आक्रमण कर दिया हो।

उन्हें जीत ललितादित्य तुखारिस्तान की ओर बढ़ा तो तुखारी उसके विक्रम से अपहृत अपने गांव-नगर छोड़ पर्वत की घाटियों पर उनकी कन्दराओं में जा छिपे। इस प्रकार जय

मध्य एशिया के अनेक राज्यों को जीत ललितादित्य पूरब की ओर बढ़ा तब दरदों को उसने कुचल डाला क्योंकि उसके राज्य के पहले पड़ोसी होने के कारण वे उसके स्वाभाविक शत्रु थे। उनसे निपटकर उसने दम लिया क्योंकि अब शत्रु दो रह गये थे चीन और भोट (तिब्बत)। उसने पहले लोहे को लोहे से काटना निश्चित कर भेद से काम लेने का सकल्प किया।

चीनी इतिहास स सिद्ध है कि मो-तो-पी (मुक्तापीड) ने पहले चीन को अपना दूत उ-लि-तो भेजा। उसके दूत न निस्प उसकसे जाते लाग राजवंश के सम्राट को समझाया कि अरबों और तुर्कों का हमला चीन पर शीघ्र ही होनेवाला है और अगर वह हमला हुआ तो तिब्बत का कांटा बगल में गहरा गड़ दिल को छेद देगा। अच्छा हो हम दोनों मिलकर उस तिब्बत के कांटे को उखाड़ दें। उसके दूत न यह भी कहा कि तिब्बत जानेवाले मध्य एशिया के पांचों रास्ते मुक्तापीड ने बन्द कर दिये हैं और अब आवश्यकता है वो साथ चीनी सेना की मदद की जिसे हम अपने तरीके से महापद्मसागर (वूलर) के तट पर तयार कर तिब्बत के विरुद्ध उसका उपयोग करेंगे। चीनी सम्राट का तिब्बत के भय से जब यह मन्जूर न हो सका तब तुर्कों के सरदार गान-स्राह्-थाम को ललितादित्य ने सम्राट के विरुद्ध उभाड़ा और उस चीनी जनरल के आक्रमण के कारण जो गृहयुद्ध चीन में शुरू हुआ उसस चीनी सम्राट को अपना सिंहासन छोड़ भागना पड़ा। ललितादित्य के लिए अब मदान साफ़ था। दक्षिण और पश्चिम क शत्रुओं से राज्य को निरापद कर उसने तिब्बत से लोहा लेने की ठानी। तिब्बत अब

अकेला हो गया।

लद्दाख पर बार-बार कश्मीर का अधिकार होता था, पर तिब्बत की कोशिश यही रही थी कि वह उसे कश्मीर से छीन ले। ललितादित्य ने अब अपनी समूची सेना के साथ तिब्बत पर आक्रमण किया और मार्ग पर मोर्चा बनाता मोर्चा-मार्चा जीतता वह तिब्बत की पश्चिमी सीमा में बहुत गहरा पिल पड़ा। समूचा लद्दाख उसके अधिकार में तो आ ही गया, संभवत राजधानी ल्हासा को छोड़ तिब्बत का समूचा पश्चिमी भाग भी कश्मीर के अधिकार में आ गया। ललितादित्य ने इतनी बार भोटों को पराजित किया कि लद्दाख के संबंध में अब उसे उनसे कोई डर न रहा। हिंदूकुश से आधे तिब्बत तक फैली हिमालय की काराकोरम की पर्वतमाला समूची अपनी हो गयी पीछे के पामीरों तक।

लद्दाख की यह कश्मीर द्वारा विजय कश्मीर के इतिहास में सदा बड़े महत्व की मानी गयी है। कल्हण ने राजतरंगिणी में चैत्र की द्वितीया को लद्दाख की जीत का त्योहार कश्मीरियों द्वारा मनाये जाने का उल्लेख किया है। तब तक ललितादित्य की उस लद्दाख विजय को पूरे चार सौ साल हो चुके थे। यह कश्मीरी राष्ट्रीय त्योहार बहुत पीछे तक कश्मीर में मनाया जाता रहा था। क्या हमारा उस विजय के त्योहार को पुनरुज्जीवित कर मनाना उचित न होगा?

तब, जब कश्मीर ने तिब्बत से लद्दाख जीता था, भारत विविध राज्यों में बटा हुआ था। आज उन सारे राज्यों की सङ्गठित शक्ति अकेले भारत की अखण्ड अपनी है। क्या यह

मद (इन्डस्) लद्दाख के उत्तरी भाग को सींचता पठानिस्तान की ओर चला जाता है और जिसके अंगांग में अपनी तीव्र गति से स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली चन्द्रभागा (चिनाब) लद्दाख को चीरती नीचे के आंगन में उतर आती है।

लद्दाख—मक्खन का देश—जादू का देश है जैसे पूरबी भारत में कामरूप का असम देश है। श्रीनगर की सड़कों पर अक्सर मझोले कद के मर्द अपनी गृहणियों के साथ दिख जाते हैं जिनके सिर पर कानों को ढकनेवाली कनपटी पर उल्टी फेल्ट या लगी रुई की टोपी चिपकी होती है जिस्म पर लम्बा लबादा होता है नीचे प्रायः घुटनों की ऊंचाई तक के फेल्ट बूट होते हैं—ऐसे नर-नारी जिन पर नजर पड़ते ही उनकी आंखें हँस देती हैं—लद्दाखी होते हैं। अपने प्रान्त की राजधानी लेह से चौदह रोज प्रायः पैदल चलकर ये श्रीनगर आ पहुंचते हैं, वहां अनेक प्रकार की अपनी चीजें बेचते हैं जिनमें, चंवरों के अतिरिक्त वे विभिन्न पत्थर भी होते हैं जिन्हें दिल्ली और बम्बई की खालीन महिलाएं अपने सौन्दर्य वर्द्धक आभूषणों में जड़वा निहाल होती हैं।

श्रीनगर से बस से चलकर वुलर झील की परिक्रमा कर कश्मीर की राजधानी को लौटने के प्रायः १८ मील पहले गान्दरबल मिलता है। वहीं से उत्तर-पूरब की ओर पुल के पास एक राह फूट गई है। लद्दाख जाने वाले वहीं से बलताल पहुंचते हैं और प्रसिद्ध जोजि-ला का दर्रा पार कर उस लद्दाख की भूमि पर पांव रखते हैं जो ऊंचा पठार होकर भी खासा गर्म है। पहले द्रास्तिस्तान मिलता है जहां के निवासियों के चेहरे

मोहरें प्राय:, लद्दाखी लिबास के बावजूद, कश्मीरियों से मिलते हैं और लद्दाखियों से सर्वथा भिन्न हैं, दरदा, गुज्जारियों, आर्यों की नस्ल। इस भू भाग के प्रधान नगर द्रास से चलकर यात्री पहले करगिल पहुंचते हैं फिर मूलबेक और फिर सिन्धुनद पार खोल्सास्ते और लेह जो लद्दाख की राजधानी है। जैसे किसी जमाने में इसी सिन्धुनद के मुहाने के प्रधान नगर मोहन-जोदड़ो में मिस्री, बाबुली, असुर आदि विविध जातियों के विदेशी मिला करते थे वैसे ही लेह की सड़कों पर अभी हाल तक तिब्बती चीनी मगोल, तुर्क, अफगान एक साथ डोला करते थे। कारण कि लेह मध्य एशिया से कश्मीर और भारत जाने वाले वणिक्पथ पर स्थित है और हमारे देश को उत्तर की ओर से आनेवाली सब की राहें उसी लेह में समाप्त होती हैं। जैसे पश्चिमी जगत् से जल की राह आनेवाली वस्तुएं भारत के पश्चिमी तट पर उतर कर मध्य देश की प्रधान मण्डी उज्जयनी की राह लेती थीं, वहीं से चारों दिशाओं में वितरित होती थीं वैसे ही इस देश से चीन मंगोलिया, तुर्किस्तान खुरासान आरमीनिया क्रिमिस्तीन जाने वाले कारवां इसी लेह से होकर गुजरते थे यहीं वस्तुएं लेते थे यहीं से आरम्भ होते यहीं समाप्त होते थे। आह वह देश जिसे आज हम लद्दाख कहते हैं और जो भारत वसुन्धरा का बायां अपांग है, देखने में खुद ऊसर और गरीब लगता हो, बेशक उसकी जमीन के ऊपर से ऐश्वर्यशाली सम्राटों के व्यवहार की वस्तुएं गुजरती रही हैं। इसी लेह की राह कभी हमारे देश की मसमल और मोर मुल्सलम पहुंचे थे, याऊद और मुसमान

के महलों इसी की राह अब्बरों और गधों पर सदकर वे हस्तलिपियां गयी थीं जिनके प्रचार के लिये आज क कृतज्ञ, पर तब वे कृतघ्न चीन मे मुद्रण यन्त्र का आविष्कार किया था, जिस राह गये कुमारे कांटे के जवाब में फूल बोने वाले साधुओं के पदचिन्ह, यक्ष तूफ़ान और पीली रेत के बावजूद आज तक न मिट सके।

जो लद्दाख के पठार को तिब्बत का प्रसार मानते हैं उन्हें शायद पता नहीं कि लेह स ल्हासा पहुचने की राह हिमालय की एकता के बावजूद, उत्तर की पार ॥ बीहड़ और लम्बी है करीब तीन महीने की। भारत की राह वहीं केवल महीने भर की है, जिससे ल्हासा जाने वाले लद्दाखी अभी हाल यानी हमसे क पहले तक चौदह रोज में श्रीनगर-पठानकोट पहुच कलकत्ता से कलिमपांग सिक्किम की राह हफ्तों में ल्हासा पहुच जाते थे।

लद्दाख लम्बी चौड़ी पहाड़ी भूमि है करीब ३०००० वर्गमील यहां के निवासी असल में जमीन पर न रहकर आसमान पर रहते हैं। सोचिय जरा, कि मसूरी और श्रीनगर की ऊँचाई कुल ५००० फुट से थोड़ी ही ऊँची है पर लद्दाख का नीची से नीची भूमि ८००० फुट से अधिक ऊँची है और वहां के निवासी १२००० से १५,००० फुट तक का ऊँची भूमि पर निवास करते हैं। तिब्बत को छोड़कर संसार का कोई देश नहीं जहां के रहने वाले जमीन से इतने ऊँचे, आसमान के इतने पास रहते हों। लद्दाख का उत्तरी सीमा धरती हिमालय के कराकोरम की वह पर्वतमाला बांधा गई है जिसकी कुछ चोटियां ससार के उच्चतम गिरिशिखरों में गिनी जाती

है। काराकोरम के दक्षिण लद्दाख नाम की ही दूसरी पर्वतश्रेणी है, पर्नी ऊँची मस्तक से हिमधवल। और ससम दक्खिन वह पर्वतमाला है जंस्कर, जिसे भेद कर देश का हमारा महान् सिन्धुनद कश्मीर का परकोटा बनाता महर्षि पाणिनि के गांव शालातुर की ओर उतर जाता है। यवन प्राचीनों का मत था कि सिन्धुनद को सारा जिस भूमि का परखा है वह समूची भारतभूमि है। आज उनके इस वाक्य का—उनका पुण्य क्षीण हो जाने के कारण,उनकी सन्तान के निर्वीय हो जाने के कारण अंग-मात्र ही सत्य रह गया है, पश्चिमोत्तर प्रान्त में, गिलगित से लद्दाख तक।

सिन्धुनद की लद्दाखी घाटी के उत्तर शियाक की घाटी है काराकोरम और लद्दाख की पर्वतमालाओं के बीच जहाँ खाशामा और अखरोटों के पेड़ों के फल हल्की हवा से भी परस्पर टकराते वह झंकार उत्पन्न करते हैं जो प्रकृत वाद्य के हैं। नीचे दक्खिन की ओर चिनाब और सतलज की घाटियाँ हैं, सिंधु की घाटी का ही तरह धन्नों की कतारें वहां कुछ धन्नों की बालें १४००० फुट की ऊँचाई पर भी पककर झूमती झकारती हैं।

कौन सोच सकता है कि ये नदियाँ जो नीचे के मैदानों को इतना उर्वर बनाती हैं, लद्दाख जैसे एक ऐसे भारतीय प्रान्त से भी होकर गुजरती हैं जहाँ उनकी घाटियों के अतिरिक्त कहीं कोई अन्न नहीं उपजता। प्रकृति की असामान्य विडम्बना है कि ऐसे ऊँचे पठार पर बहुत कम पानी बरसता है, बहुत कम बर्फ गिरती है, दिन में बेहद गर्मी पड़ती है रात

में बेहद सर्दी, और रेतीली जमीन उत्तर की ओर फैलती, दर्रों के पार गोबी का रेगिस्तान बन जाती है। भेड़ों और बकरियों के बावजूद वहां चरागाह बहुत कम है पर ऊन वहां होती है खासी, गरम, और सच मानिए, यह कुछ व्यंग्य नहीं है कि उस भूखण्ड का नाम जिसे आज लद्दाख कहते हैं कभी मर-युल था, 'मक्खन का देश'। हां, मक्खन वहां बहुत होता है और उसका राख अकसर चाय में घुल जाया करता है। चाय वहां सदा केवल नमकीन ही नहीं पी जाती, मक्खन घोटकर एक खास किस्म का स्वाद भी वह पैदा करती है जो अत्यन्त दुर्लभ है।

पर इससे कहीं अधिक अचरज और भेद की एक दूसरी बात है जिसे सुनें। देश बहुत है, वहां कला का प्रचार है लोग बारीक रुचि के हैं सुरुचि के, जो गलीचों का इस्तेमाल करते हैं लकड़ी के कटाव की चीजों का उपयोग करते हैं महलों में रहते हैं। पर वे सारे एक साथ भी बाहर से गन्दे दिखने वाले नितान्त निर्धन लगने वाले लद्दाखियों का सुरुचि में कला की वस्तुओं के व्यवहार में मुकाबिला नहीं कर सकते। उन गिरिशिखरों के मठों की अट्टालिकाओं की बात तो जाने दीजिए, वहां कला और ज्ञान की ससार में असंख्य वस्तुएं अंटी पड़ी हैं साधारण से साधारण लद्दाखी गृहस्थ के मकान में भ। लकड़ी और ऊन की बनी जिन चीजों का व्यवहार होता है वे कहीं भी ऐश्वर्यशाली घरों में सुरुचि के नमूने मानी जायेंगी। और जो अपेक्षाकृत कुछ कम निर्धन हैं उनकी गंग जमुनी धातु की वस्तुएं तो 'फिलिग्री' के वे नमूने प्रस्तुत

करती हैं जिनका मुकाबिला अन्यत्र अप्राप्य है।

किसाना सब के मकान दोमंजिले होते हैं। नीचे का तह भंडार मवेशी आदि रखने के काम आता है ऊपर की मंजिल रहने का। पौरुष चाहे पुरुष के पास जितना हो गृह का सचालन लद्दाखी नारी करती है जिसकी राह में उसके पुरुष कभी नहीं आते। पुरुष' शब्द का व्यवहार मैंने बहु वचन में किया है विशेष प्रयोजन से। लद्दाख में तिब्बत की ही तरह मातृसत्ताक परम्परा अपनी चरमसीमा को पहुच गई है। मातृसत्ता का उपयोग वहां सम्पत्ति के क्षेत्र में नहीं होता जो निष्कर्ष साधारणत इस शब्द के प्रयोग से निकला करता है। मातृसत्ताक स्थिति वहां सामाजिक है बहुपतित्व के अर्थ में। एक की शक्ति अनेक के समक्ष स्वभावतया सिद्ध है क्योंकि अनेक एक को सीमित करते हैं। भारतीय नारी समाज में बहुधा एक की अनेक रही है कम से कम उसकी अनेकता में कानूनी प्रतिबन्ध नहीं रहा है वह शास्त्रत सम्मत भी रहा है जिससे उसके अधिकार भी सीमित रहे हैं। लद्दाखी पत्नी की स्थिति इसके ठीक विपरीत है क्योंकि वह अनेक की एक होती है। उसके पति के कुल के प्राय चार भाई, कम से कम दो उस अकेली से ब्याह करते हैं। इसी स्थिति को महर्षि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र' में गायुथिकम् कहा है। सारे भाइयों की एक साथ वह रानी होती है और भाइयों में उसके कारण कभी खटपट नहीं होती। महाभारत में अर्जुन के दिग्विजय के अवसर पर कामरूप की ओर 'स्त्री राज्य' की कल्पना की गई है जो वस्तुत असम के पूर्व के नागाओं के

सम्बन्ध में सही है। यही कल्पना कल्हण ने अपनी 'राज तरंगिणी' में ललितादित्य की दिग्विजय में मूर्त की है। परपतियों की संगिनी होकर भी लद्दाख की कुलपत्नी स्त्री राज्य की नहीं पुरुष राज्य की शासिका है। और जिस सुजनता और सफलता से गृह का नियोजन और पतियों के भावबन्ध का चारित्रिक मंदिर अनुशासन करती है वही लद्दाखियों के परस्पर तथा अतिथियों के प्रति आचरण में प्रकट होता है। उनका सौजन्य सराहनीय है कोई विदेशी उनके मधुर भाषण और मधुरतर मुसकान से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। मुसकान जो बादामी आंखों को कुछ और पतली, लम्बी मुखमंडल के ऊपरी भाग को कुछ और व्यापक ठुड्डी को कुछ और नुकीली आवरण को अधिक मधुमय कर देती है। लद्दाख का जादू चल जाता है यात्री घर की दूरी भूल जाता है काराकोरम की बर्फ के बावजूद लद्दाखी पर्वतमाला के बावजूद जस्कर की गिरिशृंखला के बावजूद।

लामाओं का यह देश न केवल सदा भारत का इष्ट रहा है बल्कि उसका निजी अपना। यद्यपि आज उसपर शत्रु की आंखें गड़ी हैं वह फिर समूचा अपना होगा जैसे वह सदा अपना रहा है। उसी की राह भारतीय साहसी सेनाओं ने कैलास तक की पश्चिमी भूमि अपने अधिकार में की है उसी की राह वे काराकोरम की पर्वतमाला को लांघ एशियाई तुर्किस्तान की ओर तक समय-समय पर जा पहुंची हैं। निश्चय वह मानस और कैलासवर्ती भूमि जिसके पास ही सिन्धुनद चिनाव और सतलज के उद्गम हैं कोई हमसे ले न सकेगा सदा हमारी होगी।

१५ | कालिदास का हिमालय

हिमालय भारतीय संस्कृति का मूर्धन्य प्रतीक रहा है। वैसे तो समूचा भारतीय साहित्य उसके सान्निध्य से समुन्नत हुआ है, संस्कृत के सारे काव्यों में उसकी प्रशस्ति उपलब्ध है पर कालिदास का हिमालय विशेष प्रिय है और अपने काव्यों में वे बार-बार पर्वतराज की ओर आकृष्ट होते हैं। कुमारसम्भव का समूचा काव्यविन्यास उसी गिरिराज के शिखरों पर उपत्यकाओं में प्रथम प्रसार पर हुआ है। मेघदूत का उत्तर भाग कनखल की पर्वती ढलान से चढ़कर कैलाश और मानस तक जा पहुँचता है जहाँ कवि की अलका स्निग्ध-गंभीर पुष्कर-नाद से गूँजते अपने भित्ति-चित्रों की सुषमा लिये प्रासाद खड़े हैं और जहाँ अलका की स्वच्छ सारी गंगा की धारा बन कटि भाग से छूट पड़ी है। रघुवंश के पहले, दूसरे और चौथे सर्गों की भावभूमि भी हिमालय की छाया में ही उठी है। अभिज्ञान-शाकुन्तल के सातवें अंक और विक्रमोर्वशी के चौथे अंक की घटनाएँ उसी नगाधिराज की उपत्यका भूमि पर अनावृत होती हैं।

और यह नगाधिराज हिमालय भारत का जागरूक प्रहरी, उसकी उत्तरी सीमा का निर्माणकर्ता, पूर्वसागर से पश्चिमसागर

तक पृथ्वी के मानदण्ड की भांति उसे नापता चला गया है। पूर्वसागर निश्चय उत्तरी सीमा के पूर्वी भाग से पर्याप्त दक्षिण पड़ता है पर कवि की आदर्श राष्ट्रीय कल्पना में नेफ़ा के पूर्वतम उत्तरी भाग से उतरती आसाम और बर्मा के बीच से होती अखण्ड शिलाओं की जो रेखा बंगाल की खाड़ी तक चली गयी है वही देश की पूर्वतम सीमा का निर्माण करती है जब उसकी पश्चिमी सीमा का निर्माण वह हिन्दूकुश करता है जिसका एक छोर पामीरों की भूमि के पास काराकोरम की शृंखला पूर्व में छूता अफ़ग़ानिस्तान का शिरोभाग बनता अरब सागर तक चला गया है और जिसका पिछला उतार ईरान के पठार को छू लेता है।

हिमालय की इसी दीवार से निकलकर सिन्धु गंगा और ब्रह्मपुत्र की धाराएं धुआंधार हो इस देश की उत्तरवर्ती भूमि को उर्वर करती थीं आज भी उनकी अनेक धाराएं देश की भूमि को बहुविध साधती हैं।

पामीरों की वक्रकुण्डली से निकल यह पर्वतमाला संसार के उच्चतम शिखरों का धवल मस्तक धारण किए प्रायः दो हज़ार मील दौड़ती चली गयी है और तुषारावृत धवल प्रसार के कारण सहज ही अपना हिमाद्रि तथा हिमालय नाम सार्थक करती है। कवि ने उसके अनेक गगनचुम्बी शिखरों का उल्लेख कैलास, गौरीशिखर गन्धमादन मन्दर मेरु और सुमेरु नामों से किया है। कैलास, कौंचरन्ध्र अथवा नीतिपास के पूरब वाचिन अथवा गंगोत्री से परे मानसरोवर से कोई २५ मील उत्तर शिव के घनीभूत अट्टहास' सा खड़ा है जिसका स्फटिक

तुषार-दर्पण के सामने खड़ी हो देव ललनाएं अपना काम प्रसाधन करती हैं। कभी रावण ने अपनी भुजाओं का बल परखने के लिए कैलाश को झकझोर दिया था जिससे उसकी सन्धियाँ ढीली हो गयी थीं, चूलें हिल गयी थीं और उस पर्वत के निवासी शिव पार्वती-सहित सहसा सम्भ्रान्त हो उठे थे। यही कैलाश 'एकपिंगलगिरि' है कुबेरशैल जहाँ यक्षराज धनद कुबेर निवास कर अलका के प्रासादों को अपने वैभव से समृद्ध करते हैं। यहीं हेमकूट के शिखर पर महर्षि मरीचि ने शकुन्तला को शरण दी थी जहाँ वर्णचित्रित मृत्तिकामयूर को परे फेंक भरत सिंहों के दाँत गिना करता था और पुरूरवा ने जहाँ दैत्य केशी के मुख से वारवनिता उर्वशी को झपटकर छीन लिया था। कभी तिब्बतियों का वह प्रसिद्ध 'कांग रिन-पोचे' नाम का यह कैलाश हमारी उत्तरतम सीमा का संतरी था।

गंधमादन कैलाश के शिखर का ही एक नाम है संभवतः उसका दक्षिणी भाग, जहाँ शिव का दाम्पत्य विलास पलता है और जिसके वन प्रान्त में उर्वशी को खोकर पुरूरवा लतावितानों से सम्पल्लवों में प्रिया की राह पूछता है जहाँ मन्दाकिनी के तीर सिकता के पर्वत फैले हैं, वृक्षों का पवन पवन सहलाता है जाह्नवी पुलिन के पार दर्शन होते हैं। गंधमादन पर्वत का माहात्म्य न केवल कविवर का है बल्कि समूची भारतीय पौराणिक कथाकारिता का वह ललित स्थान है जिसने उसकी भौगोलिक सीमाएं प्रवहमान बन जाती हैं, कैलाश से बदरिकाश्रम तक, गढ़वाल के उन पहाड़ों तक जहाँ से होकर अलकनन्दा की पवित्र धारा दक्षिणवर्ती उतार पर बह जाती है।

पास ही मन्दर है बदरिकाश्रम के नरनारायण का मन्दिर धारण करने वाला मन्दराचल। महाभारत को उसे कैलाश और गंधमादन की ही दिशा में कैलाश के उत्तर रखना अभिप्रेत है। शिव का दाम्पत्य विलास मेरु पर चलकर इसी मन्दर की गुहाओं में कुछ काल खो जाता है, फिर कैलाश और गंधमादन की ओर उसका संक्रमण होता है।

मेरु (सुमेरु), जहां उमा का तपःपूत मुख विजित मकर पहली बार अनवगुण्ठित करते हैं, कैलासवर्ती ही है उससे बहुत दूर नहीं, रुद्रहिमालय में ही अवस्थित जहां से जाह्नवी अपना जीवन पाती है। मत्स्यपुराण ने राष्ट्रीय मोह से सुमेरु की सरहद बांधी है—उत्तर में उत्तरकुरु दक्षिण में भारतवर्ष पश्चिम में केतुमाला पूरब में फिर भारतवर्ष। सुमेरु चाहे जहां रहा हो पर उसका मोह भी भारतीयों से न छूटा और गढ़वाल का केदारनाथ आज भी परम्परया उसी नाम से मुखर है। सुमेरु स्वर्णमण्डित है विद्याधरों किन्नरों अश्वमुखों, किम्पुरुषों का आवास, जिसका स्वर्ण चाहे लुट जाय पर जिसके प्रसार पर बालारुण और अस्तगामी सूर्य द्वारा प्रातः-संध्या बिखेरा सोना कौन हर सकता है?

कालिदास की भारती जिस लोकोत्तर भाव गरिमा से हिमालय का उल्लेख करती है वैसा अन्यत्र किसी कवि ने किसी गिरि का नहीं किया। घनश्याम मेघ गिरिराज के कटिभाग का अपने श्यामल आवर्त से घेर लेते हैं। उनकी शीतल छाया में सिद्ध-वनिताएं वात और वर्षा से डरी शिखर शिखर आ धूप का सेवन करती हैं। इसी की पांतें नीचे के से मैदानों से

उड़कर गिरिमण्डित गंगा की ओर उड़ जाती है, जहाँ उस पवित्र धारा की नीहारिकाओं से बोझिल वायु यात्रियों का श्रम हरती है किन्नरियों के गायन में कम्पन भरती है, बनैले बाँसों के रन्ध्रों में प्रवेश कर उनमें वंशी का स्वर फूकती है, मोज सरलों से पतित पत्रों से मरमर ध्वनि उत्पन्न करती है। नमरु वृक्षों की घनी छाया में कस्तूरीमृग शिलाओं पर बैठ विश्राम करते हैं और शिलाएं उनकी गंध से महमह हो उठती हैं। देवदारुओं के घन वन में उनकी शाखाएं परस्पर जो रगड़ जाती हैं तो सहसा दावानल भड़क उठता है और तमपूरित रात्रि भासमान हो उठती है। हिमालय फिर भी दावानल के वैश्वानर से रात्रि को प्रकाशित होने की अपेक्षा नहीं करता अनेक अनेक औषधियाँ उसके वनप्रान्तर में फली हैं जो दिवा का अवसान होते ही जल उठती हैं और रजनी विभावरी हो जाती है तलहीन दीप वह और जल जल उठते हैं। उधर वह क्रौंचरन्ध्र है, कुमाऊं का नीति-मार्ग तिब्बत जाने का द्वार जो परशुराम की शक्ति की घोषणा आज भी अपने घाव द्वारा कर रहा है—कभी उस वीरकर्मा विप्र ने अपनी धनुर्विद्या की परीक्षा के लिए उधर तीर मारा था और क्रौंचरन्ध्र बन गया था। पहले उस राह हंस उड़े फिर भारतीय यात्री चले जिधर कभी हास के कटे हाथीदाँत की तरह खड़ा था। और उसी धवल के देवतावास की छाया में मानस का वह पुनीत सर है जहाँ स्वर्णकमल खिलते हैं जहाँ वर्षारम्भ के लिए नीचे के गाँवों के सरों से हंस मृणाल का पाथेय ले उड़ पड़ते हैं। मानस के स्वर्णकमलों के प्रति, पीतारविंदों के प्रति, राजहंसों

राजहंसियों का आग्रह क्यों न हो। मैदानों में जब नदियाँ उमड़ पड़ती हैं धरा पर छाया वर्षागम अब उनके आहार को ढक लेता है तब मानसवर्ती निनाए हां उनका आवास बनती है। मन्दाकिनी के तीर विद्याधरों की बालाएं स्वर्णसिकता से खेलती हैं और यक्षों की अलका के प्रासादों में जो रत्नदीप जलते हैं उनकी लौ कामातुर यक्ष की लजायी यक्षिणियां लाजवश मुट्ठी भर भर चूर्ण फेंक-फेंककर भी नहीं बुझा पातीं। नगाधिराज हिमालय के प्रान्तर पर डोलती चवरी गायें अपने पुच्छ-चंवर झल गिरिराज के राजत्व का परिच्छेद पूर्ण करती हैं। गिरिराज की गुहाओं में मृगराज रमते हैं और जब-तब वनचर दम्पति जब उनकी काम-केलि को ढकने के लिए झीने मेघ तिरस्कारिणी बन गुहा के द्वार पर लटक जाते हैं।

हिमालय असंख्य रत्न प्रसव करता है जिन्हें वहां के वनचर प्रायः खोजते फिरते हैं। जब सिंह गजों के गण्डस्थल पंजों के प्रहार से विदार गजमुक्ता झराते हैं कवि कहता है तब गजमुक्ताओं को हेरते वनचर उनका सुराग सिंहों के पंजों की राह में छोड़ी रक्तछाप से पाते हैं। गजों के झुण्ड जब देवदारुओं को रगड़कर तोड़ देते हैं तब वनान्त तक उन तरुओं के क्षीर की सरस गंध फल जाती है। जिन देवदारुओं को पार्वती अपना तनय मान अपने दूध से पालती है उन्हें क्रूर गज जब ताड़कर नष्ट कर देते हैं तब भला पार्वती के वाहन क्रूरतर सिंह उन्हें समुचित दण्ड क्यों न दें?

गौरीशिखर का पवित्र धवल नेपाल में है—गौरीशंकर के नाम से विख्यात। अनेक लोगों ने इसे माउण्ट एवरेस्ट माना

है जिस पर भारतीय वीरता ने एक दिन भारत का झण्डा गाड़ दिया था। एवरेस्ट चाहे गौरीशंकर न हो, पर निस्सन्देह गौरीशंकर आज हिमालय की जिस पर्वतमाला में है वह कभी भारतीयों का वन्द्य था जैसे वह आज भी उनका वन्द्य है, यद्यपि जो एवरेस्ट की ही भांति आज हमारी सीमा से हट गया है और जिसका प्रत्यक्ष-मात्र हम दूर दार्जिलिंग से कर पाते हैं।

हिमालय की पर्वतमाला में अनेक प्रपात हैं जिनकी संख्या वास्तव में गणनातीत हो जाती है। इनमें से दो—गंगाप्रपात और महाकोशीप्रपात—का कालिदास ने उल्लेख किया है। वैसे तो इनका संबंध गंगा और महाकोशी नदियों से है पर वे वस्तुतः कहां थे, यह निश्चित रूप से कह सकना आज कठिन है। गंगाप्रपात वसिष्ठाश्रम के पास ही कहीं होना चाहिए था जहां कभी पुत्रव्रतधारी राजा दिलीप गोचारण करते थे। वसिष्ठाश्रम हिमालय की उपत्यका में ही महाकवि ने स्पष्ट कहीं रखा है, जो वैसे रामायण की परम्परा से भिन्न है। महाकोशी प्रपात की सप्तकोशियों को सम्मिलित धारा है। उसी प्रपात के तीर शिव हिमालय की कन्या पार्वती को शिव के लिए गिरिराज से मांगने गए सप्तर्षियों के लौटने की प्रतीक्षा करते हैं।

हिमालय के गले हिम से ही निकल उसकी भारत की प्रधान नदियां नाचे के मैदानों में उतर आती हैं। पंजाब की पांचों नदियां और सिन्धु का निकास भी हिमालय से ही है। इनमें से कई का पाकिस्तान की धरती धारण करती है। गंगा

का उद्गम गंगोत्री है। गोमुख द्वार से गिर समूचे मध्यदेश को उर्वर करती ब्रह्मपुत्र को भेंटती यह पतितपावनी गंगा सागर में लय हो जाती है। जाह्नवी भागीरथी की यह धारा पौराणिक प्रसंगों की जननी महान् सभ्यताओं का आदि कारण रही है। यमुना बन्दरपुच्छ के कलिंदगिरि से निकल कलिंदकन्या नाम सार्थक करती हिमालय का जल प्रयाग तक बहा ले आती है और वहां, जैसा कवि ने कहा है श्वेतनील जलपट बुनने में सहायक होती है। नदियों का यह 'सितासित' संगम देखते ही बनता है। उसी हिमवान से बहकर सरयू कालीनदी का जल लिये अयोध्या को पुनीत करती गंगा से आ मिलती है। सरस्वती का उद्गम हिमालय के सिरमूर पहाड़ों में है, सिवालिक में जहां से आदि बद्री की राह उतर वह मरुभूमि में खो जाती है। ऋग्वेद का आदि मानव उसे पवित्रतम मान ज्ञान की धारा से अभिन्न कर देता है। फिर जब वह उसे नहीं भुला पाता तब प्रयाग की त्रिवेणी में उसे अन्तःसलिला कह सम्बोधित करता है। कुरुक्षेत्र के भारत युद्ध के समय बलराम युद्धविरत हो हिमतनया सरस्वती के ही तीर आ बसे थे। गंगा की एक धारा मन्दाकिनी भी थी जिसे हिमालय के ऊंचे शिखरों से गिरने के कारण कवियों ने स्वर्गंगा भी कहा है। हिमवर्ती प्रदेश में ही यह अलकनन्दा से आ मिलती है और अलकनन्दा अन्ततः गंगा से। उसी हिमालय के उत्तरवर्ती छोर में ब्रह्मपुत्र का उद्गम है जो तिब्बत के पहाड़ों से होता नेफ़ा की राह अपने ही नाम की घाटी में उतर आता है। उसी नद के तीर भारत ने पहले

पश्म रेशम के कीड़े पाले थे, रेशम के पट बुने थे। उसकी माया को लौहित्य प्रांत में प्राची आकाश में उठने वाली सूर्य की किरणें लाल कर दिया करती थीं और उसका नाम 'लौहित्य' (यह व्युत्पत्ति साधारण-भिन्न है) सार्थक हो जाया करता था। और बालारुण की ज्योति का प्रथम दर्शन करने वाले प्राग्ज्योतिष के नागरिकों को अनेक बार भारतीय राजाओं ने दण्डविधान से मण्डित किया था। पवनराज के उत्तुंग हिमावृत शिखरों से निकल पहले जलधाराएं शिलाओं पर पतली धार से गिरती हैं टूटती चूर होतीं मदाना में उतर जाती हैं और वहां उनका त्रिभुवत विस्तार हो जाता है।

पुराणों के अनुसार इसी हिमालय में, इसके मध्यभाग में अवस्थित वह अनवतप्त सरोवर है जहां से चार प्रधान नदियों का निकास होता है। सीता अथवा यारकन्द की धारा पामीरों को बेध उत्तर बह जाती है। वक्षुनद (आमू दरिया) पश्चिम, सिन्धु दक्षिण और गंगा पूरब की ओर। वक्षु की घाटी हिमालय से मिले पामीरों के ही पश्चिमोत्तरी उतार पर है जहां अनक सम्पन्न फलों-फूलों और जिसके फ़रमना-बदख्शां के गीत फ़िरदौसी ने 'शाहनामा' में गाये। वक्षु के तीर की क्यारियों में केसर फूलती है, और एक बार जब वहां के हूणों ने—कालिदास भी कालविरुद्ध दोष से मुक्त नहीं—भारत की ओर निगाह फेरी तब रघु ने कोजक अमरान पहाड़ों को बगली दे वक्षु की उस घाटी में उतर गये थे और अपने रिसाले के घोड़ों को उन्होंने उन्हीं कीमती क्यारियों में विश्राम दिया था, जहां केसर घोड़ों की सटों में लिपट उन्हें लाल कर देती थी।

मुगों बाद जब 'चन्द्र' ने पंजाब की सातों—'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे निर्जिता वाह्लिका'—नदियों को पार कर बलख के निवासियों वाह्लिकों को जीता था तब उस घाटी की याद वह न भुला सका था और उसने महरौली (पृथ्वीराज की दिल्ली) के पास अपना लौह स्तम्भ खड़ा कर उस पर अपनी इस विजय की प्रशस्ति खुदवा दी थी। भारत की सीमा तब ईरान से टकराती थी और रघु जब राज से इकी ईरानी भूमि (द्राक्षावलयभूमिषु), वोलन का दर्रा लांघ गिरिश्क जा पहुंचे तब ईरानी अश्वारोहियों ने दांतों में तृण दाब मस्तक से पगड़ी उतार उनकी अभ्यर्थना की थी।

कालिदास का भारत की प्राकृतिक सीमा प्रस्तुत करने का प्रयास कभी इतिहास सम्मत भी था कुछ कालिदास का अपना नहीं। तालेमी ने सिन्धु के पश्चिम के प्रदेशों—बलूचिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान दोनों—को भारतीय सीमा के भीतर गिना था। उधर के सारे प्रदेशनाम मूल में संस्कृत हैं और वह समूची भूमि इस्लाम की विजय तक भारतीय राजाओं द्वारा शासित होती थी। यदि तोलेमी द्वारा निर्धारित भारत की पश्चिमी सीमा हम स्पष्ट करना चाहें तो हमें सिंधु के मुहान से बलख तक एक ऐसी रेखा खींचनी होगी जिसके भीतर न केवल कन्दहार गजनी और काबुल पड़ेंगे बल्कि उनसे भी पश्चिम के प्रदेश जिससे प्रायः समूचा हिन्दूकुश उस रेखा के भीतर आ जायेगा। यदि तोलेमी हिन्दूकुश और आमू दरिया के उद्गम को भारत की उत्तरी और पश्चिमोत्तरी सीमा मानता है तो शुद्ध राष्ट्रवादी कालिदास उन्हें अपनी सीमा

के भीतर क्यों न मानें ? हिमालयवर्ती तब की इस भारत भूमि की पश्चवर्ती सीमा यही आमू दरिया था जिसके अर्धचन्द्राकार मोड़ के पूरब कश्मीर की सीमा पर काराकोरम के ऊपर की दिशा में खड़ा है और उसी से लगी पामीरों के चरण में लाटी वह घाटी है जिसके एक ओर सिन्धु की ऊपरली धारा है दूसरी ओर आमू और यारकन्द का उद्गम स्रोत। इसी घाटी की राह लोग एक ओर तिब्बत, दूसरी ओर तुर्किस्तान जाते थे। बल्ख से बक्नाव के संगम तक खुलम की राह होकर जाते थे और यदि कालिदास के मन में उधर की किसी राह की संज्ञा थी तो निश्चय रघु ने वही राह ली होगी जो सिकन्दर ने बल्ख तक ली थी और फिर उत्तर-पूर्व घूमकर बदख्शाँ और वखाँ की राह कम्बोज की सीमा पर वे जा पहुँचे होंगे।

आगे का देश निस्सन्देह तब के भारत का न था और रघु दूसरी ओर से लौटने के लिये फिर हिमालय पर चढ़े। राह में कश्मीर और बल्हिकों के बीच, पर कुछ पूर्वायत्त, कम्बोज थे जिन्हें उर करना जरूरी था और कम्बोज चीन की सीमा तक फैले थे हिमालय के परे। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में कम्बोजों को कश्मीर के उत्तर में रखा है जिन्हें मुक्तापीड ललितादित्य ने दरदों के साथ अपने प्रताप से झुलस दिया था। रघु पामीरों की ओर से जब यारकन्द की घाटी से होकर कम्बोजों के बीच से निकले तब काराकोरम की शृंखला सामने थी। उसी का दर्रा लाँघ वे गंगा की ऊपरली धारा का भाग निकल गये बायीं ओर, सम्भवतः लद्दाख के सिरे सिरे दरदों के बीच होकर। कुछ असम्भव नहीं जैसा कालिदास के संकेत से प्राय स्पष्ट है,

जो रघु संभवतः और पूरब से चल समूचे लद्दाख को अपनी सीमा में लेते। और यदि उनका गंगा के कणों से बोझिल शीतल वायु से अभितृप्त होना सही हो तो इस अनुमान में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि उनकी राह हिमालय और लद्दाख के बीच होती बद्रीनाथ-गंगोत्री को लांघती गंगा और यमुना के बीच पहुंची होगी जो कलाप के निकटवर्ती उल्लेख से स्पष्ट भी हो जाता है। यदि कम्बोज देश बदख्शां का एक भाग और यारकन्द घाटी से लगी गलचा भूमि रहा हो तो तब की भारत की सीमा के भीतर उसका होना सहज जान पड़ता है। देश अखरोटों से भरा था जिनके तनों से रघु के हाथी बांधे गये थे और उन अच्छे घोड़ों की जाति खास जो वहां की विशेषता है जो अगणित संख्या में रघु को भेंट किए गए थे। कम्बोजों द्वारा रघु को प्रदत्त रत्न का उल्लेख गलचा भाषी शहर मुञ्जान की गोमेद की खानों से सार्थक हो जाता है। इसी गलचाभाषी प्रदेश में कश्मीर के उत्तर और उत्तरपूर्व कम्बोजों का निवास था लद्दाख से लगा, कुछ और उत्तरायत था खास चीन में है। इन्हीं भारतीय कम्बोजों ने कभी कम्बुज अथवा कम्बोदिया में, भारत-बर्मा के दक्षिण-पूर्वी दिशा में अपना सांस्कृतिक उपनिवेश खड़ा कर उसे अपना नाम दिया था।

हिमालय की पर्वतमाला में ही रघु ब्रह्मपुत्र की घाटी की ओर बढ़ते चले गये थे किरातों उत्सवसंकेतों किन्नरों की दिशा में। प्रारम्भ में किरात पहले थे मर-युल (जिसे तिब्बती मध्यकाल में मर-युल अर्थात् 'मक्खन का देश' कहते थे यही आज लद्दाख कहलाता है) में कालिदास के किरात निश्चय

लद्दाख, जस्कर और रप्शू के तिब्बती थे, यद्यपि कुछ अजब नहीं जो कालिदासी किरात संज्ञा से तात्पर्य दूर तक फैले उन तिब्बती जातियों से भी रहा हो जो कराकोरम और गंगा से पूरब कैलाश और मानसरोवर के निकटवर्ती प्रदेश में रहते रहे हों। भोट और किरात नाम प्राय समानार्थक रूप से पहले प्रयुक्त होते रहे हैं। भूटान का भारतीय सीमा के अन्तर्गत होना इस प्रकार प्राचीन परंपरा की भावभूमि पर खड़ा है। ग्रीक मांझी द्वारा पहली सदी ईसवी में लिखा पेरिप्लस किरातों को गंगा के निकास के पश्चिम और तोलेमी उन्हें टिपरा के निकट रखता है। पर प्राय भारतीय साहित्य में उत्तरवर्ती किरात हिमालय की समूची शृंखला में विशेषकर ब्रह्मपुत्र की घाटी में, बस बताये गए हैं। कालिदास के रघु का सम्पर्क उनकी पश्चिमी जातियों से संभवत लद्दाख के आसपास ही हुआ था।

किन्नर किरातों से भिन्न थे और उनका उल्लेख अक्सर मानवेतर यक्षों-गन्धर्वों के साथ हुआ है। संभवत वे कैलाश और मानस के पश्चिम में बसे थ। सतलज की घाटी में जहां चन्द्रभागा की धारा निकट आ जाती है वहीं कहीं, आधुनिक कनौर के पास किन्नरों का निवास था। उत्सवसंकेतों के प्रति कवि का संकेत सांस्कृतिक है। इस संज्ञा से उन जातियों का तात्पर्य है जो सगोत्र संबंध करतीं थीं, जिनमें वैवाहिक बंधन शिथिल थे, जिनमें 'उत्सव' अर्थात् प्रणय का आधिक्य था और जो 'संकेत' द्वारा अपने प्रियों को बुला लेते थे, अथवा स्वयम् प्रेमातिरेक में बुलाये जा सकते थ। कन्नौर का प्रदेश आज भी इस प्रक्रिया से सहज समत है।

पूर्व में कामरूपों का निवास था, आसाम की धरा पर, वर्मा तक लौहित्य जिसे अपने रस से सींचता था, प्राग्ज्योतिष, गौहाटी उनकी राजधानी थी।

हिमालय प्रकृति का अभिराम आवास देवताओं की पुनीत भूमि हिन्दूकुश की पश्चिमवर्ती शृंखला से जुड़ा पामीरा की उन्नत भूमि पर मस्तक धरे, कम्बोज-लद्दाख को अपने अन्तर में लपटे, कैलाशवर्ती भूमि से नेफ़ा के समूचे उत्तरांश का परिकर बांधे वर्मा तक चला गया है। हमारे ऋषियों के ज्ञान का विकासक नदियों के उपरले स्रोतों का सुधारक हिमालय! क्या हम उस पर पदाघात सह सकेंगे?

१६ संस्कृत कवियों की राष्ट्रीयता
अखण्ड भारत की सीमाएँ

संस्कृत के कवियों की एक विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपनी रचना का रूप एकांगी नहीं रखा। उन्होंने अन्तरंग और बहिरंग समान रूप से साधे। जिस आस्था से उन्होंने अमूर्त भावों का मूर्तन किया उसी आस्था से अपने चतुर्दिक वातावरण का भी अपनी तूलिका से अभिराम चित्रित किया।

वस्तुतः उनके प्रकृति और पुरुष अनेक बार अभिन्न हो गए हैं मानो एक ही वस्तु पुरुष और प्रकृति के रूप में सधकर ढली हुई है और कवि रूप में पुरुष कभी अन्तःस्थ हो वैयक्तिक व्यापक चिन्तन करने लगता है। कभी फले जगत् के प्रति उल्लसित हो व्यापक प्रकृति की अनन्त सुषमा से मुखर हो उठता है। एक स्थिति दूसरी से परित्यक्त अथवा अभिन्न नहीं हो पाती, लगता है जैसे व्यक्ति और प्रकृति एक ही विन्यास के विभग हों एक-दूसरे के न केवल पूरक बल्कि एक-दूसरे में समाहित।

वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, जयदेव, जगन्नाथ, दण्डी, बाण प्रकृतिभिन्न-मात्र पुरुष की उपलब्धि प्रस्तुत करनेवाले नाट्यकार तक प्रकृति के

वातावरण को अनेकधा अपने वर्णन का अन्तरग बना लेते ।
प्रकृति उनसे परे न होकर उनकी अपनी हो जाती है अथवा
स्वय प्रकृति के अपने हो जाते हैं। इस प्रकृति का जा विस्तार
वही संस्कृत कवियों की राष्ट्रचेतना का संकेत है। उनकी राष्ट्
यता उनकी प्रकृति से भिन्न नहीं यद्यपि वह प्रकृति भारत
विविध राज्यों की निजी सीमाओं द्वारा परिमित न होकर अ
परिवेश में समूचे भारत को समेट लेती है। वस्तुत उन
राष्ट्रीयता जहां एक ओर राज्यों की एकस्थ शृंखला का उ
सह-अस्तित्व और परिवार को स्वीकार करती है वही
भारतेतर प्रान्तों को भी अस्वीकार कर अपनी सीमाएं भा
की भौगोलिक सीमाओं से अभिन्न और एकांगी कर लेती है
उदाहरण के लिए कोई भी संस्कृत कवि भारत के बाहर
प्रकृति का वर्णन नहीं करता उसकी वर्णन प्रक्रिया उत्तर दि
में हिमालय और शेष तीन दिशाओं में सागर से सीमित
जाती है। राजनीति में चाहे संस्कृत कवि अपने-अपने सरक्
राजाओं के यश का साहित्य में अमर करे पर निश्चय प्रकृ
के विन्यास में उनकी प्रक्रिया अपने राज्यों की सीमाओं
लांघ भारत की भौगोलिक सीमाओं से बंध जाती है। रा
तब राज्य से अभिन्न नहीं रह पाता सक्रमणशील सांस्कृति
राष्ट्र के अनुरूप अपने समावित विस्तार को देखता है अ
अखण्ड भारत का भौगोलिक पर्याय बन जाता है। इसी
दाक्षिणात्य दण्डी मध्यभारत अथवा उत्तर की उपेक्षा नहीं
पाता न मध्यदेशीय बाणभट्ट ही अक्षोभ सरोवर की। इ

समाहित कर लेती है जब कि वाल्मीकि के प्रयास का भूगोल कथा के स्वभाव से ही व्यापक है और व्यास का श्रम तो वाल्मीकि से भिन्न, सदियों की एकस्थ अनन्यता का परिचायक है। कालिदास का कर्तव्य एकान्तिक है एक सम्पन्न प्रचुर और प्रभूत की एकीभूत कवितता।

कालिदास सहस्राब्दियों का सत्य स्वायत्त कर मुखरित होता है, अनन्त का एकत्र दर्शन है देश और काल की प्रवह-मान गति को जैसे अपने कृतित्व में अकेन्द्रित कर क्षण भर के लिए रोक लेता है। संयम और सुरुचि अनुभव को बहने नहीं होने देते और वास्तुकार की मेधा से शिल्पी के तक्षण से वह अपने परिष्कृत सौकुमार्य द्वारा कृतित्व में समा लेता है। फिर जैसे जादूगरी के माध्यम से ही ज्ञान और विज्ञान धर्म और दर्शन साहित्य और कला अर्थ और राजनीति आवश्यकता-नुसार भावोद्गीरित यथावत् यथाक्रम झरने लगते हैं। पर वह भारतीय कवियों का मूल सत्य कालिदास के संबंध में भी सही हो जाता है कि वह महाकवि भी भारत की सीमाओं के बाहर नहीं जाता कम से कम सांस्कृतिक अथवा स्वीकृत सीमाओं के बाहर नहीं, यद्यपि उसके लम्बकृत का लम्बायित सन्दर्भ असाधारण बड़ा है और उसकी भूमिका का 'स्वीप' बैनवस के असाधारण विस्तार पर सहसा फैल जाता है।

कालिदास के 'स्वीप' का जरा अभ्यास कीजिए—'रघुवंश' के आर्यावर्त से चलनेवाली सेना का अभियान-संक्रमण जिसकी परिधि में पूर्वसागरगामिनी दिशा के सुह्म उत्कल प्राग्ध, कावेरिपर्यन्त मद्रास दक्षिणवर्ती दर्दुर, मलय केरल, पाश्चात्य

अपरान्त और सह्य, फिर उत्तरवर्ती मरुभूमि, पारसीक, वक्ष घाटी के वह्लीक और हूण हिमालय के कम्बोज किन्नर और दरद कैलास, लौहित्य और प्रागज्योतिष सभी आ जाते हैं। दूसरी परिगणना में वर्णन की राजनीतिक प्रक्रिया में रघुवंश के मात्र एक सर्ग (छठा) के केवल एक सन्दर्भ इन्दुमती के स्वयंवर में समूचे भारत के उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक के राज्य-परिवार एकत्र गिन लिये जाते हैं। तीसरी ओर लंका से अयोध्या तक के अनेकानेक स्थल दक्षिण सागर और सरयू की धारा के बीच लालसासिक्त राम की वाणी में मंदिर संस्मरणों के संदर्भ में उछल पड़ते हैं। मेघदूत का 'स्वीप' तो नागपुर के पास रामटेक से उठता है और उत्तरवर्ती समूचे मध्यप्रदेश समूचे मध्यदेश और ब्रह्मावर्त पार कैलासपर्यन्त नगनदी कान्तारजनपद घर लेता है। कैनवस का यह विस्तार भारतीय सीमा के अन्तर्गत स्वयं निःसीम है, पर कवि की दो कृतियाँ ऐसी भी हैं जहाँ वह क्षण को अनन्त में और परिमित को निःसीम में सम्भावित कर देता है। कुमारसम्भव' मात्र हिमालय को सकेन्द्रित कर सूक्ष्म को विस्तार मे देखने का प्रयत्न है, जैसे 'ऋतुसंहार' क्षण में समूचे वर्ष को देखने का प्रयत्न।

कुमारसम्भव' और ऋतुसंहार में अभिराम तथा विचक्षण के अतिरिक्त एक विशेष प्रस्तर देश और काल का है। 'कुमारसम्भव' में परिमित प्रदेश की विस्तृत भावरागासक्त गरिमा अभिव्यक्त हुई है 'ऋतुसंहार' में समस्त काल का पठनीय क्षण में गोपा गया है। न कुमारसम्भव' का अभिराम

उत्तुंग - गरिम वैभव मध्यप्रदेश की सीमाओं में समा सकता था और न 'ऋतुसंहार' की षड्ऋतुओं के संक्रमणशील सौन्दर्य का निरूपण नगाधिराज की हिमभूमि में संभव हो पाता। हिमालय में उसी प्रकार षड्ऋतुएं नहीं होतीं जिस प्रकार यूरोप आदि के शीत प्रधान देशों में नहीं होतीं। वैसे कुछ सप्ताह वहाँ वसंत भी होता है, कुछ सप्ताह ग्रीष्म भी, पर शीत कम-बेश वहाँ बराबर बना रहता है और वर्षा का तो कोई समुचित नियम ही नहीं। इस दृष्टि से ऋतुओं का सही परिघटन भारत के अन्तरंग में ही संभव है और कालिदास ने उचित ही उसके लिए मध्यप्रदेश को चुना, जहाँ मानव वातावरणीय प्रक्रिया को पूर्णतः बदलते आनेवाली ऋतुओं का आनुक्रमिक संक्रमण देखता और भगता है।

कालिदास की राष्ट्रीयता इन सब क्षणों घड़ियों मासों और ऋतुओं की, गाँवों नगरों, जनपदों और राज्यों की भावात्मक एकता प्रस्तुत करती है। अभिराम सुषमा और रागांकन की प्रक्रिया तो कविकर्म है, कवि के संकल्प का अनिवार्य आधार और आदिबिन्दु। जो कवि लेखनी उठाता है उसके अनिवार्य आवश्यक ये 'प्रस्थानत्रयी' हैं। पर अन्यतम्य कवि की सचयित प्रक्रिया है जिसमें उसके दृष्टिकोण तथा जीवन के अभिप्रेत निर्दिष्ट होते हैं। कालिदास का समूचा वर्ण्य राष्ट्रीयता की समान सत्ता प्रस्तुत करता है जो इस प्रकार है।

अखण्ड भारत की भौगोलिक भावसत्ता की दिशा में कवि के समन्वित अभिप्रेत के प्रति ऊपर संकेत किया जा चुका है। कवि का भौगोलिक विन्यास द्विधा है जड़ और चेतन, दोनों

को समेट लेनेवाला। उसकी कृतियों में प्रदेशों, जनपदों नगरों, वनप्रान्तरों, नदियों प्रपातों, पर्वतों, समुद्रों आदि का जो विराट् और निःशेष वर्णन हुआ है उनसे पूरा भारतीय भूगोल का महाग्रन्थ बन सकता है। ऐसी-ऐसी जलधाराओं का कवि की कृतियों में निर्देश हुआ है कि भूगोलवेत्ताओं को भी उनके संबंध में खोज की आवश्यकता पड़ जाती है और वह खोज उनके ग्रंथ का आधार बनती है।

चेतन के परिवेश में दूर्वा से अश्वत्थ तक शलभ से गरुड़ तक इन्द्रगोप से शेषनाग तक चींटी से गजेन्द्र ऐरावत तक मर्कट से मानव तक मेढक से जलहस्ती और ह्वेल तक सभी अपने स्थान पर अपना उल्लेख अनिवार्य पा जाते हैं। और कहीं-कहीं तो यह सन्दर्भ इतना व्यापक हो उठा है गागर में सागर से कहीं व्यापक कि सारा जगत् श्लोकार्ध में सन्निविष्ट हो गया है। उदाहरणतः सन्दर्भ में एक शिव की समाधि का। समाधि भूमि के द्वार मार्ग की रक्षा शिव का गणप्रवर नन्दी द्वारपाल की मुद्रा में अधिकार सूचक वेत्रयष्टि को वामस्कन्ध पर टिकाये खड़ा, कहीं शिव की समाधि भंग न हो जाय इसलिए, होंठों पर उंगली रखे चराचर को जैसे संकेत से चित्रार्पित आकृतियों की भाँति निस्पंद हो जाने के लिए सावधान करता है—मा चापलाय—खबरदार, कोई हिले-डुले नहीं! और उस सन्दर्भ में जो कालिदास ने समस्त चराचर को अपने सूक्ष्म विवेचन द्वारा निविष्ट कर दिया है उसका 'स्वीप' संसार के साहित्य में अजाना है—

'निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।

भौगोलिक सपदा की अभिव्यक्ति कवि का, उसके अभिराम अंकन के बावजूद, स्थूल काम है आकार का निरूपण, पिण्ड की तन्मध्य सत्ता का मूर्तन। और वह ऐसा है जैसा कवि अपने चाक्षुष प्रयत्न से देख पाता है जैसा वह उसे हृदयगम कर रागसिक्त आकलित कर पाता है। सूक्ष्म यद्यपि इससे सर्वथा परे नहीं—क्योंकि सूक्ष्म स्थूल का ही सूक्ष्मीभूत रूप है—है वह प्राप्य तत्व, कवि का प्राप्त तत्व जितना हो सकता है। कवि का प्राप्य तत्व इतना मूर्तन में नहीं जितना उसके नवसधान में है नवनिर्माण में नवीकरण में वयक्तिक सचेत, आत्मनिष्ठ समाजनिष्ठ अवग्रहण में। समाज द्वारा सदियों के काल-प्रसार में निर्मित ज्ञान विज्ञान को जिस मात्रा में कवि अपने व्यक्तित्व के विकार म उसके संयम और उल्लास से, अगीकृत नवीकृत कर अपने म अभिन्न कर लेता है उसी मात्रा में वह अपने अक्षय राष्ट्र की सक्रमणशील देश और काल के परिमाण में अपरिमित राष्ट्रीयता का परिचायक होता है। सदियों के भारतीय समाज क धर्म और राजनीति साहित्य और कला, दर्शन और धम, विश्वास और मान्यताओं सक्षेपत समूचे ज्ञान-विज्ञान का जिस मात्रा में कालिदास ने हृदयगत कर उसका उद्गिरण किया है उस मात्रा में अन्य किसी कवि ने नहीं किया और उसी मात्रा में राष्ट्र की राष्ट्रीयता कालिदास में सन्निहित हुई है।

राजधम, प्रजाधर्म, राजा का काम का कारण होकर भी दिनचर्या के कालक्रमण द्वारा कतव्य के प्रति जागरूक और संयमित होना उसके तत्वों का प्रजारजन धम से निमित्त होना,

कृतियों में दे दिए हैं। पुराणों के नये देव-वर्गों के अभिजात मूर्तन, विविध प्रभामण्डलों के विकसित अभिप्रेत, मकरस्थित गंगा और कमठस्थ यमुना के क्रमशः चँवरधारी प्रतीक, उस विकास में उसी प्रकार के विरामचिह्न हैं जिस प्रकार के विराम कुषाणों और गुप्तों के बीच के वे अभिप्राय हैं जो रेलिंगों की यक्षी कायाओं में अभिमूर्त हुए हैं। प्रगट है कि राष्ट्रकता वह कवि ही परित्यक्ता अयोध्या की विरहित स्थिति का वर्णन दूर की कुशावती में राजा कुश से कर सकता था जिसने कुषाणकालीन मथुरा के जैनस्तम्भों पर उभारी यक्षिया की वह राष्ट्रीय निधि प्रत्यक्ष देखी हो और कला के उस अभिमत विकास को राष्ट्रीय रूप से स्वीकार किया हो। अयोध्या की *राज्यलक्ष्मी प्रवासी राजा कुश से कहती है—राजन् अयोध्या* के राजप्रासाद को घरनेवाली रेलिंगों की स्तम्भ-नारियों के रंग जो सालों की धूल से मिट गये हैं सो उनके स्तनों को ढकनेवाले कंचुकों का अभाव हो गया है और अब उनका उर्ध्वार्ध रागपट्ट से आवृत नहीं होता उन केंचुलों से होता है जो उनके कभी के कमनीय उच्च तन पर रेंगनेवाले सर्प छोड़ जाते हैं।

कालिदास के तात्कालिक साहित्य तथा ज्ञान की ही भाँति समाज के स्वरूप का भी उनकी कृतियों में सांगोपांग वर्णन हुआ है। उनके दर्पण में वह समाज अपने उच्चावच रूप में इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुआ है कि राष्ट्र का सर्वांगीण रूप प्रत्यक्ष उतर आया है। वर्णों के आभ्यन्तर तथा बाह्य और पारस्परिक संबंध उनके निजी संस्कार, व्यवहार और कर्तव्य

उनकी विभिन्न स्थितियाँ रोगदाप, नैतिक-मानसिक व्यापार, वस्तुत समूची राष्ट्रसत्ता को ऐसे पारदर्शी यत्र के प्रमाव से, समय के दिव्य चक्षु से विगत और सप्रति के सान्निध्य से कवि ने डेढ़ हजार वर्ष बाद के आज के भारतीय राष्ट्र को भी उपलब्ध कर दिया है।

धर्मप्राण हिन्दू की मूर्तिपूजक निष्ठा उसके व्यापक विश्वास-अविश्वास, यवनों, शकों, कुषाणों द्वारा प्रारम्भित पालित विकसित विज्ञान ज्योतिष की परम्पराएँ जिस सीमा तक राष्ट्रसम्मत होकर कवि-क्रिया में अभिनिविष्ठ मूर्तिवत प्रकट हो गई हैं वह कालिदास के पाठक का अभिमत सत्य है। दर्शन के विभिन्न संप्रदायों का जितना स्वाभाविक और सहज वर्णन कालिदास ने किया है, श्रीहर्ष के एकान्तिक दार्शनिक ज्ञान के बावजूद उसका स्पृहणीय है। भारतीय राष्ट्र के दार्शनिक चिन्तन का कौन-सा योग विनियोग है जो कालिदास के स्पर्श से अछूता रह गया है ?

होमर का 'इलियड' तब के एकियाई-दोरियाई ग्रीक आर्यों के मात्र एक अंग को प्रत्यक्ष करता है यद्यपि तत्कालीन ग्रीक जगत् को एक अंश तक वह निदर्शन व्यक्त भी करता है। पर कालिदास के मुकाबिले उस कवि का संसार कितना हेय लगता है, कितना उपेक्षित ! होमर अपने शत्रुओं के उस जगत् की ओर समुचित संकेत तक नहीं कर पाता जो ईजियाई सभ्यता का कभी समृद्ध केन्द्र रहा था। कालिदास की सचेत राष्ट्रीयता विभिन्न अभिमत को, समागत संप्रति को, परपरागत सावधि को इस रूप से अपनी कृतियों के माध्यम

से अभिव्यक्त करती है कि सहस्राब्दियों का राष्ट्र अपनी समूची अभिव्यक्तियों द्वारा आज भी हमारी आँखों के सामने आ खड़ा होता है। कारण कि कालिदास की राष्ट्रीयता समूचे राष्ट्र से सर्वथा अभिन्न है कारण कि कालिदास राष्ट्र के साथ एकीभूत हो गया है, काल और देश से स्वतन्त्र, तथापि समूचे भारत की वास्तविक और काल्पनिक सीमाओं से अभिसीमित।

१७ | अजेय राष्ट्रभावना।

महते जानराज्याय !—प्राचीन ऋषियों का यह राष्ट्र के प्रति अभिनन्दन है—महान् जनराज्य को प्रणाम! इसी निष्ठा से हमारा भारतीय राष्ट्र सन ४७ में अपने जन्म के बाद राष्ट्र वादियों द्वारा अभिनंदित हुआ है सतत अभिनन्दनीय है।

भारत की राष्ट्रभावना अजेय है। कारण कि इसकी निर्मात्री शक्तियां अनेक हैं। इसकी विविधता असाधारण विविध एकता ही इसकी अजेय शक्ति है। वैदिक वाक्य है—

'जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणंपृथिवी यथौकसम्।'

भारतीय वसुधा का परिवार जनसङ्कुल है, अनेक जातियां वह धारण करती है उन्हें आहार देती है। भारत की भाषाएं अनेक हैं जातियां अनंत हैं उसके जनों के धर्म असंख्य हैं। पर इनको धारण करनेवाली धरती एक है सबका मातृत्व समान है। अपने इन्हीं अनंत जनों से, अनंत पुत्रों से यह भूमाता शक्तिमती हुई है जैसे इन्द्रादियों से अदिति। इन्हीं अनंत भाषाओं-बानियों के कारण यह सहस्रजिह्वा बनती है, मधु-वर्षिणी शारदा। धर्मों की अनेकता, उसकी विविध संस्कृतियों की जननी है, सम्प्रदायों की विविधता की जननी, जिससे उनके

भिन्न भिन्न अनुयायी अपने भिन्नबोध के बावजूद परस्पर सहिष्णु जीवन बिता सकें, जिससे अनंत संस्कृतियों के सयोग की सम्पदा उनके अतरावलंबन की एकत्र प्रवाहित भारत वसुन्धरा को हो सके।

जबसे हमारे इस नवराष्ट्र का जन्म हुआ है, जब से हमने इसकी स्वतंत्र सीमाओं में स्वच्छन्द विचरण किया है हमारी प्राचीनतम अजेय राष्ट्रीयता तब से लौट आई है स्मृतिमत्त हुई है। सिकन्दर के प्रति आत्मसमर्पण को चुनौती देनेवाले कठों की ग्रीक साम्राज्य के विद्रोही सिंधी मूषिकों के उन ऋषियों की जिन्होंने अपने निर्भीक और व्यग्यप्रखर उत्तरों से उस विश्वविजेता का हास्यास्पद कर दिया था कालिदास के रघु की जिसने ईरानी कोकन अमरात के पहाड़ों को बगली दे बलख-बदख्शां में मामू दरिया के तीर की केसर की क्यारियों में अपने रिसालों के घोड़ फिराए थे अखरोटों से भरे बर्बा के मैदानों में कम्बोजों को धूल चटा मक्खन के देश मर-युसू महाल के उत्तरौंहें पूरब-पूरब मोटों-किरातों को भूलुंठित कर गगा की उपरली धारा की नीहारिकाओं से ओमिल शीतल वायु से थकान मिटाई थी। स्मृतियों की शृंखला अटूट है— अर्जुन की उत्तर-विजय का नेफा से बर्मा तक मुक्तापीड़ ललितादित्य को दिग्विजयों की जिसने 'दुनिया की छत' पामीरों पर अपने कश्मीरी राष्ट्र के झंडे गाड़े थे चन्द्र की जिसने पंजाब की सातों जलधाराओं का लांघ बलख को जीत लिया था अपनी प्रशस्ति—

'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता बाह्लिका'—

दिल्ली के पास महरौली के रायपिथौरा के गढ़ में अपने मोहरुतम पर खुदवा दी थी। वह राष्ट्रभावना आज भी सजग है जिसने उत्तर की सीमाओं पर हूणों का प्रबल गतिरोध किया था, जिसके धनी स्कन्दगुप्त ने रातें नंगी समरभूमि में काटी थीं, जिसकी भुजाओं से हूणों के टकरा जाने से धरा डोल गई थी, भावर्त बन गया था—'हूणर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।'

सदा से वही राष्ट्रभावना हमारे उत्तरी कोठों की रक्षा करती रही है। हिन्दूकुश के प्राचीरों पर कभी लोहे से लोहा बजा था, जब पंजाब का चाणक्य पटना से राष्ट्र का सूत्र-सचालन कर रहा था, जब उसके मौर्य चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के जनरल, सीरिया के सम्राट सेल्यूकस को प्रशमित कर उसकी पूर्वी सीमाओं के चार प्रांत छीन लिये थे, जब पिछले दिनों में साहियों ने काबुल के पहरुए बन उत्तर के मार्ग अपनी चट्टानी छातियों पर झेले थे जब हरीसिंह नलवा के विक्रांत पौरुष ने हिन्दूकुश की ऊंचाइयों से दहाड़ा था, जब जोरावर सिंह ने कश्मीरी लद्दाख से तिब्बत की राह ली थी। निश्चय वह इसी भारतीय राष्ट्रीय भावना की चमक थी जो उस औरंगजेब के जरिए फ़रगना में चमकी जहां सम्मुख पराजय के सामने दांत उस भारतीय ने दुश्मनों के बीच, उनके देखते घोड़े से काठी खींच उसे जानिमाज बना लिया था।

यह राष्ट्रीय जनचेतना निश्चय अजेय है जीती नहीं जा सकती। जनों की चेतना है यह उन राष्ट्रीयों की जिन्होंने भारत की धरा पर अटूट गणराज्यों का निर्माण किया था—

वज्जियों-लिच्छवियों का, भरदूटों-कोठों का, क्षुद्रकों-मालवों का। नि:सन्देह क्षुद्रकों का मालवों का, जो एक हाथ में हँसिया धारण करते थे और दूसरे में तलवार तथा जिनकी प्राचीन स्मृति से सुरक्षित शपथ थी—कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित —दाहिने हाथ से कर्म करता हूँ बायें हाथ से विजय ओढ़ता हूँ, दाहिने में कर्म बसता है बायें में विजयश्री।

हमारा राष्ट्र नित्य है नित्य जन्म लेता है विकसित होता है, अक्षय है—नवो नवो भवति जायमान:—नित्य नया होता है, अमर है। नित्य जीता है क्योंकि हम इसके राष्ट्राभिमानी, इसमें नित्य निरन्तर जागते हैं, सदा से ऋषिकाल से जगते रहते हैं—

'राष्ट्रे जागृयाम वयम्
राष्ट्रे जागृयाम वयम्'

राष्ट्र की रक्षा में हम सदा कटिबद्ध रहते आए हैं कटिबद्ध रहेंगे। भय हमें छू नहीं जाएगा—भय ही राष्ट्र की रक्षा में बाधक होता है—हम निर्भीक इसकी रक्षा करेंगे भय से हम सर्वथा विहीन होंगे, सूर्य चन्द्रमा की भांति निर्भय। सूर्य और चन्द्रमा जैसे सदा निर्भीक रहते हैं, सदा अक्षय वैसे ही नव-राष्ट्र की रक्षा में सन्नद्ध हम भी निर्भीक रहेंगे हमारे प्राण अपना मोह न जानेंगे, भय न जानेंगे—यथा सूर्यश्चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यत:। एवा मे प्राण मा बिभे ॥

जब-जब हमारी उस राष्ट्रचेतना का ह्रास हुआ है तब-तब हमारे सुचेता विचारकों की वाणी आग बरसा पड़ी है। विष्णु-पुराणकार, दिग्विजयी समुद्रगुप्त की प्रसरनीति के साथ की

साथ राम तक के साम्राज्य को धिक्कार उठता है, कहता है—मिट गए वे जिन्होंने कहा या कहना चाहा भारत मेरा है। वे साम्राज्य मिट गए, उनके निर्माता सम्राट मिट गए, काल उन्हें बहा ले गया और आज इसमें तक संदेह होने लगा है कि वे कभी हुए भी थे राम तक के अस्तित्व में—धिक्कार है साम्राज्य को! धिक्कार है राघव के साम्राज्य को! धिक्कार है ऐश्वर्य को! यह वाणी पांचवीं सदी के जनचेता राष्ट्रचेता इतिहासकार की है।

हमारी राष्ट्रभावना भारत के जनों की मानता है, विविध धर्म माननेवाले, विविध भाषाएं बोलनेवाले जनों की—क्योंकि हमारी पृथ्वी उन्हींको धारण करती है—

'जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं, नाना धर्माण पृथिवी यथौकसम्'—समूचे राष्ट्र के रूप में उस पृथ्वी को जन स्वीकार करते हैं। अकेले उसका मातृत्व मानते हैं—'माता भूमि पुत्रो अहं पृथिव्या'—भूमि मेरी माता है उस माता पृथ्वी के भारत का मैं पुत्र हूं। 'महते जानराज्याय'[1]—इस महान् गणराज्य भारत को प्रणाम!